दो बहनें

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

दो बहनें

श्रीहजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा अनूदित

विश्वभारती ग्रन्थालय

६-३ द्वारकानाथ ठाकुर लेन

कलकत्ता ७

प्रथम बँगला संस्करण : १६३३

हिन्दी अनुवाद 'विश्वभारती पत्रिका' : १६४६

हिन्दी अनुवाद पुस्तकाकार : १६५२

प्राप्तिस्थान

विश्वभारती ग्रन्थालय

६-३ द्वारकानाथ ठाकुर लेन, कलकत्ता ७

उत्सर्ग

श्रीयुक्त राजशेखर बसु के

कर-कमलों में

शर्मिला

स्त्रियाँ दो जाति की होती हैं, ऐसा मैंने किसी-किसी पंडित से सुना है।

एक जाति प्रधानतया माँ होती है, दूसरी प्रिया।

ऋतुओं के साथ यदि तुलना की जाय तो माँ होगी वर्षाऋतु—वह जल देती है, फल देती है, ताप शमन करती है, ऊर्ध्वलोक से अपने-आपको विगलित कर देती है, शुष्कता को दूर करती है, अभावों को भर देती है।

और प्रिया है वसन्तऋतु। गभीर है उसका रहस्य, मधुर है उसका मायामंत्र। चञ्चलता उसकी रक्त में तरङ्ग लहरा देती है और चित्त के उस मणिकोष्ठ में पहुँचती है जहाँ सोने की वीणा में एक निभृत तार चुपचाप, झंकार की प्रतीक्षा में, पड़ा हुआ है; झंकार—जिससे समस्त देह और मन में अनिर्वचनीय की वाणी झंकृत हो उठती है।

शशांक की स्त्री शर्मिला 'माँ' जाति की है।

दो बहनें

बड़ी-बड़ी हैं उसकी शान्त आँखें, धीर-गंभीर चितवन। सजल श्यामल नवीन मेघ के समान कमनीय है उसकी स्निग्ध और साँवली कान्ति; माँग में सदा सिंदूर की अरुण रेखा शोभती रहती है, साड़ी की किनारी काली और चौड़ी, दोनों हाथों में मगर के मुँहवाले मोटे-मोटे कंगन — जो साज-सिंगार की भाषा कम बोलते हैं, सोहाग की अधिक।

पति के जीवन-लोक में ऐसा कोई सीमान्त प्रदेश नहीं जहाँ उसके साम्राज्य का प्रभाव शिथिल हो। स्त्री के अति लालन की छाया में पति का मन भुलक्कड़ बन गया है। यदि किसी मामूली पलखत में फ़ाउन्टेन पेन मेज़ के किसी ऐसे हिस्से में पल भर के लिये ग़ायब हो गया, जो ज़रा कठिनाई से दिखाई देता है, तो इसके पुनराविष्कार का भार स्त्री पर है। स्नान करते समय कलाई की घड़ी कहाँ रख दी, शशांक को यह बात एकाएक याद नहीं आती, लेकिन स्त्री की नज़र ज़रूर उस पर पड़ती है। विभिन्न रंग के दो जोड़े मोज़ों में से एक-एक को पहनकर जब वह बाहर जाने के लिये तैयार होता है, उस समय स्त्री ही आकर उसकी ग़लती सुधार देती है। शशांक देसी महीने के साथ अंगरेज़ी तारीख

जोड़कर जब मित्रों को निमंत्रण देता है और अप्रत्याशित अतिथियों का दल आ उपस्थित होता है तो उसे सँभालने की आकस्मिक जिम्मेदारी स्त्री की होती है। शशांक निश्चित रूप से जानता है कि दिनचर्या में कहीं कोई ग़लती रहेगी तो स्त्री के हाथों उसका सुधार अवश्य हो हो जायगा। इसीलिये ग़लती करना उसका स्वभाव बन गया है। स्त्री सस्नेह तिरस्कार के साथ कहती, 'अब मुझसे नहीं होता, तुम क्या कभी कुछ नहीं सीखोगे!' लेकिन यदि वह सीख ही जाता तो शर्मिला के दिन ग़ैरआबाद ज़मीन की तरह अनुर्वर हो जाते।

मान लीजिए शशांक दोस्तों के घर दावत खाने गया है। रात के ग्यारह बज गए या दोपहर हो आई। ब्रिज के दाँव चल रहे हैं। अचानक मित्रलोग हँस पड़े: 'उठो दोस्त, वह समन लेकर प्यादा आ गया, अब ज़्यादा नहीं रुक सकते।'

वही चिर-परिचित नौकर महेश है। मूछों के बाल पक गए हैं, सिर के बाल कच्चे ही हैं, पहनावे में मिरजई है, कंधे पर चारख़ाने का गमछा, और बगल में बाँस की लाठी। माईजी ने पुछवाया है कि बाबू यहाँ हैं या नहीं। माईजी को डर है कि कहीं लौटते समय अँधेरी रात में

कुछ दुर्घटना न घट बैठे। साथ में एक लालटेन भी दी है।

शशांक कुड़मुड़ाकर ताश फेंककर उठ खड़ा होता। दोस्त फ़िक़रा कसते—'आहा, बेचारा अकेला बेहिफ़ाज़त मर्द जो ठहरा!' घर आकर शशांक स्त्री के साथ जो वार्तालाप शुरू करता वह न तो स्निग्ध भाषा में होता, न शान्त शैली में। शर्मिला चुपचाप सारी फटकार सुन लेती। क्या करे, ख़ामोश रहते भी तो नहीं बनता। अपने मन से वह इस आशंका को एकदम दूर भी नहीं कर सकती कि उसकी अनुपस्थिति में सब तरह की असम्भव विपत्तियाँ उसके पति के विरुद्ध षड्यंत्र रचती रहती हैं।

बाहर कोई आया है, शायद किसी काम से। इधर छिन-छिन में अन्तःपुर से काग़ज़ के चिरकुट आ रहे हैं, 'याद है न, कल तुम्हारी तबीयत ठीक नहीं थी, आज सबेरे-सबेरे खा लो।' शशांक ग़ुस्सा करता है और फिर हार भी मानता है। बड़े दुःख के साथ एक बार स्त्री से कहा था, 'दुहाई है, चक्रवर्ती परिवार की गृहिणी की तरह किसी ठाकुर देवता का सहारा लो। तुम्हारी इतनी फ़िकिरमंदी मुझ अकेले के लिये बहुत अधिक है। देवता के साथ साझा रहने से वह सहज

हो जायगी। चाहे जितनी भी ज़्यादती करो, देवता को कोई एतराज़ नहीं होगा लेकिन मनुष्य तो कमज़ोर जीव है।'

शर्मिला ने कहा, 'हाय हाय, एक बार काकाजी के साथ जब मैं हरिद्वार गई थी उस समय तुम्हारी क्या दशा हो गई थी, याद है?'

दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई थी, यह बात शशांक ने ही ख़ूब नमक-मिर्च मिलाकर स्त्री को सुनाई थी। वह जानता था कि इस अत्युक्ति से शर्मिला को जितना अनुताप होगा उतना ही आनंद भी होगा। उस दिन के अमितभाषण का प्रतिवाद भला कौन मुँह लेकर करे! चुपचाप मान जाना पड़ा, सिर्फ़ इतना ही नहीं, उसी दिन सुबह उसे ज़रा सर्दी-सी लगी जान पड़ी, शर्मिला की इस कल्पना के अनुसार उसे दस ग्रेन कुनैन खानी पड़ी, ऊपर से तुलसी के पत्तों की रसवाली चाय भी पीनी पड़ी। आपत्ति करने का उपाय नहीं था क्योंकि एक बार ऐसी ही अवस्था में आपत्ति करके उसने कुनैन नहीं खाई थी और बुख़ार भोगना पड़ा था। यह घटना शशांक के इतिहास में अमिट अक्षरों में लिख गई है।

घर में आरोग्य और आराम के लिये जिस प्रकार शर्मिला की ऐसी सस्नेह व्यग्रता थी, बाहर शशांक की

सम्मान-रक्षा के लिये भी उसकी सतर्कता उतनी ही सतेज थी। एक दृष्टान्त याद आ रहा है।

एक बार शशांक और उसकी स्त्री घूमने के लिये नैनीताल गए थे। पहले से ही उनका कम्पार्टमेंट सारे रास्ते के लिये रिज़र्व था। जंक्शन पर आकर गाड़ी बदलकर शशांक कुछ खाने-पीने की सामग्री लाने के लिये बाहर गया, लौटकर देखता है कि वर्दीधारी एक दुर्जनमूर्ति उन्हें बेदखल करने को उद्यत है। स्टेशनमास्टर ने आकर एक जगद्विख्यात जेनेरल का नाम लेकर बताया कि कम्पार्टमेंट असल में उसके लिये ही था, ग़लती से दूसरा नाम चिपका दिया गया था। शशांक ने आँखें फाड़कर देखा और जब संभ्रमपूर्वक दूसरे कम्पार्टमेंट में जाने की तैयारी करने लगा, तो शर्मिला गाड़ी में चढ़कर दरवाज़ा रोककर खड़ी हो गई; गरजकर बोली, 'देखती हूँ कौन आकर मुझे उतारता है, बुला लाओ अपने जेनेरल को!' शशांक उस समय तक सरकारी नौकर था, ऊपरवाले अफ़सर के जातिभाई से बचबचकर ख़तरे से दूर रहकर चलने का ही वह आदी था। हड़बड़ाकर बोला—'अरे भई, झमेला बढ़ाने से क्या फ़ायदा, गाड़ी में और भी तो जगह है।' शर्मिला ने इस बात पर कान ही

नहीं दिया। आख़िरकार जेनेरल साहेब जब रिफ्रेशमेंट रूम से नाश्ता-पानी ख़त्म करके मुँह में चुरुट दबाए बाहर आए तो स्त्री-मूर्ति की उग्रता देखकर चुपचाप हट गए। शशांक ने स्त्री से पूछा—'जानती हो कितना बड़ा आदमी है?' स्त्री ने जवाब दिया 'जानने की ग़रज़ नहीं। जो डिब्बा हमारा है उसमें वह तुमसे बड़ा नहीं।'

शशांक ने सवाल किया—'यदि अपमान करता तो?"

स्त्री ने जवाब दिया—'तो तुम किसलिये हो?'

शशांक शिवपुर का पासशुदा इंजीनियर है। घर की ज़िंदगी में शशांक की ढिलाई कितनी भी क्यों न हो, नौकरी में वह पक्का है। प्रधान कारण यह है कि उसके कर्मस्थान में जिस ऊँचे ग्रह की दृष्टि पड़ी थी वह वही वस्तु है जिसे चलती ज़बान में 'बड़ा साहब' कहते हैं। वह स्त्री-ग्रह नहीं। शशांक जिस समय एकिंग डिस्ट्रिक्ट इंजीनियर के पद पर काम कर रहा था उस समय आनेवाली तरक़्क़ी का चक्का एकाएक दूसरी ओर घूम गया। उसकी योग्यता को लाँघकर कच्ची जानकारी होते हुए भी जिस भोगी मसोंवाले अंग्रेज़ युवक ने

उसका आसन दख़ल किया, उसका अचिन्तनीय आविर्भाव अधिकारियों के सबसे बड़े अफ़सर के संपर्क और सिफ़ारिश के बल पर हुआ था।

शशांक ने समझ लिया कि इस अर्वाचीन को ऊपर के आसन पर बिठाकर ख़ुद नीचे बैठकर उसे ही सारा कामकाज सँभालना पड़ेगा। अधिकारियों ने पीठ ठोंककर कहा, 'व्हेरी सारी मजुमदार, जितनी जल्दी होगा तुम्हारे लिये उपयुक्त स्थान जुटा देंगे।' दरअसल वे दोनों ही एक ही 'फ्रीमेसन् लाज' के अन्तर्गत थे।

तथापि आश्वासन और सान्त्वना के होते हुए भी सारा मामला मजुमदार के लिये अत्यंत नीरस हो उठा। घर आकर उसने छोटी-बड़ी सभी बातों में खटर-पटर करना शुरू किया। अचानक उसकी नज़रों में आफ़िस-घर के कोने में पड़ा हुआ मकड़ी का जाला पड़ गया, चौकी पर पड़ा हुआ हरे रंग का पर्दा उसे बिल्कुल पसंद नहीं आता, यह भी अचानक याद आ गया। नौकर बरामदे में झाड़ दे रहा था, धूल उड़ रही है कहकर उसे ज़ोर की फटकार बताई। धूल ज़रूरी है, रोज़ ही उड़ती है परन्तु फटकार एकदम नई चीज़ थी।

इस असम्मान की ख़बर उसने स्त्री को नहीं बताई।

सोचा, यदि उसके कानों तक बात जाएगी तो नौकरी के इस जाल में एक और उलझन पैदा कर देगी,—ख़ूब संभव है बड़े अफ़सर से कड़वी भाषा में झगड़ा हो कर आवे। विशेष करके उस डोनाल्डसन पर तो उसे बहुत अधिक ग़ुस्सा है। एक बार वह सर्किट-हाउस के बाग़ीचे में बन्दरों का उत्पात दमन करने गया था और छर्रों से शशांक की सोला टोपी में छेद कर दिया था। कोई दुर्घटना नहीं हुई किन्तु होते कितनी देर लगती! लोग कहते हैं दोष शशांक का ही था, यह सुनकर शर्मिला का ग़ुस्सा और भी बढ़ उठा—डोनाल्ड्सन के ऊपर ही। ग़ुस्से का सबसे बड़ा कारण यह है कि बन्दर को निशाना बनाकर जो गोली दागी गई थी वह शशांक के ऊपर आ पड़ी, दुश्मनों ने इन दो बातों का समीकरण करके ख़ूब मखौल उड़ाया था।

शशांक के पद-लाघव को ख़बर उसकी पत्नी ने स्वयं आविष्कार की। पति का रँगढँग देखकर उसने समझ लिया था कि गिरस्ती में किसी ओर से कोई एक काँटा ऊपर उठ आया है। इसके बाद कारण मालूम करने में उसे देर नहीं लगी। कान्स्टिट्यूशनल एजीटेशन—वैधानिक आन्दोलन—के रास्ते वह नहीं गई, गई सेल्फ़ डिटर-

मिनेशन—आत्म-निर्णय—के रास्ते। पति से बोली, "अब और नहीं, फ़ौरन काम छोड़ दो!"

छोड़ देने से अपमान की जोंक छाती से खिसक पड़ती, लेकिन ध्यान-दृष्टि के सामने फैला हुआ था बँधी तनख्वाह का अन्नक्षेत्र, और उसके पश्चिमी दिगंत में दीख रही थी पेन्शन की अविचलित स्वर्णोज्ज्वल रेखा।

शशांकमौलि जिस वर्ष एम. एस-सी. डिग्री के सर्वोच्च शिखर पर हाल ही में अधिरूढ़ हुआ था, उसी साल उसके श्वसुर ने शुभकर्म में विलंब करना उचित नहीं समझा—शशांक के साथ शर्मिला का विवाह हो गया। धनी ससुर की सहायता से ही उसने इन्जीनियरिंग पास की। उसके बाद नौकरी में शीघ्र उन्नति का लक्षण देखकर राजारामबाबू जामाता की भावी सफलताओं के क्रम-विकास का निर्णय करके आश्वस्त हो गए। लड़की ने भी आज तक अनुभव नहीं किया कि उसकी दुनिया बदल गई है। सिर्फ़ यहाँ अभाव नहीं है यही बात नहीं, बल्कि पिता के घर की चाल-चलन भी यहाँ ज्यों की त्यों मौजूद थी। कारण यह है कि इस पारिवारिक दो-अमली शासन की व्यवस्था-विधि शर्मिला के अधिकार में ही थी। उसके सन्तान नहीं हुई, होने की आशा भी

शायद छोड़ दी गई है। पति की सारी कमाई ज्यों की त्यों उसके हाथ में आ जाती है। यदि विशेष ज़रूरत हुई तो घर की अन्नपूर्णा से दुबारा भिक्षा माँगने के सिवाय शशांक के लिये दूसरा उपाय नहीं। यदि माँगने का दावा अनुचित साबित हुआ तो अर्ज़ी नामंज़ूर होती है। शशांक मान लेता है सिर खुजलाकर। किसी ओर से मधुर रस पाकर नैराश्य का अभाव पूर्ण भी हो जाता है।

शशांक बोला, "नौकरी छोड़ देना मेरे लिये कुछ भी नहीं है। तुम्हारे लिये ही सोचता हूँ, तक़लीफ़ तो तुम्हें ही होगी!"

शर्मिला बोली, "उससे भी बड़ी तकलीफ़ तब होगी जब अन्याय को निगलते समय वह गले में अटक जायगा।"

शशांक ने कहा, "कुछ करना तो होगा ही। निश्चित को छोड़कर अनिश्चित के लिये किस गली की ख़ाक छानता फिरूँ?"

"वह गली तुम्हें नहीं दीखती। तुम नौकरी के बाहर की दुनिया को कुछ समझते ही नहीं।"

"समझता ही नहीं! क्या कहती हो तुम! यह

विश्व-ब्रह्मांड बड़ा भारी है। उसके राह-घाट की सर्वे करने जायगा कौन? और इतनी बड़ी दूरबीन ही किस बाज़ार में मिलेगी?"

"बड़ी दूरबीन की तुम्हें ज़रूरत नहीं होगी। हमारे रिश्ते के मथुरा भैया कलकत्ते में बड़े कन्ट्राक्टर हैं। उनके साथ साझे में कारबार करने से दिन कट जाएँगे।"

"साझा वज़न में बराबरी का नहीं होगा। इधर के बटखरे में कमी पड़ेगी। लँगड़ी शराकत से पद-मर्यादा भी नहीं रहेगी।"

"इस ओर भी किसी प्रकार की कमी नहीं पड़ेगी। तुम जानते हो, पिताजी मेरे नाम से जो रुपया बेंक में रख गए थे वह आज सूद से बढ़ गया है। साझीदार के निकट तुम्हें छोटा नहीं होना पड़ेगा।"

"ऐसा भी कहीं होता है! वह रुपया तो तुम्हारा है"—कहकर शशांक उठ पड़ा। बाहर कोई इन्तेज़ार कर रहा था।

शर्मिला ने पति का कपड़ा खींचकर बैठा लिया, बोली, "मैं भी तो तुम्हारी ही हूँ।"

इसके बाद बोली "अपनी जेब से फ़ाउन्टेन पेन निकालो। यह रहा कागज़। इस्तीफ़ा लिख दो।

जब तक वह डाक में नहीं चला जाता तब तक मुझे शान्ति नहीं।"

"जान पड़ता है मुझे भी शान्ति नहीं मिलेगी।'

लिख दिया उसने इस्तीफ़ा।

दूसरे ही दिन शर्मिला कलकत्ते चली गई और मथुरा भैया के घर जा पहुँची। अभिमान के साथ बोली, "किसी दिन भी तो बहन की ख़बर नहीं ली तुमने!" प्रतिद्वन्द्वी अगर स्त्री होती तो कहती, "तुमने भी तो नहीं ली।" लेकिन पुरुष के दिमाग़ में यह जवाब नहीं आ सका। उसने अपराध स्वीकार कर लिया। बोला, "साँस लेने को तो फ़ुर्सत नहीं है। ख़ुद ही जीवित हूँ कि नहीं इसीमें भूल हो जाती है। इसके सिवा तुमलोग भी तो दूर ही दूर घूमते रहते हो।"

शर्मिला बोली, "अख़बार में देखा कि मयूरभञ्ज या मथुरगंज में कहीं कोई पुल तैयार करने का काम तुम्हें मिला है। पढ़कर कितनी ख़ुश हुई! उसी समय मन में आया कि मथुरा भैया को ख़ुद जाकर कंग्रैचुलेट कर आऊँ।"

"ज़रा सब्र करो बहन, अभी भी समय नहीं हुआ।"

मामला यों था : नक़द रुपया लगाने की ज़रूरत थी।

किसी धनी मारवाड़ी के साथ साझे में काम करने की बात थी। आख़िरकार मालूम हुआ कि जैसी शर्तें हैं उससे भीतर का गूदेवाला हिस्सा मारवाड़ी के और छिलकेवाला हिस्सा उसके भाग्य में जुटेगा, इसीलिये पीछे लौटने की चेष्टा हो रही थी।

शर्मिला व्यस्त होकर बोल उठी, "यह कभी नहीं होगा। साझे का काम करना ही हो तो हमारे साथ करो। ऐसा काम तुम्हारे हाथ से निकल गया तो भारी अन्याय होगा। मेरे रहते यह नहीं होने पाएगा—तुम चाहे जो कहो।"

इसके बाद लिखा पढ़ी में भी देर नहीं हुई; मथुरा भैया का हृदय भी विगलित हुआ।

रोज़गार बड़ी तेज़ी से चल निकला। इसके पहले शशांक नौकरी के लिये काम करता था। उस ज़िम्मेदारी की सीमा परिमित थी। मालिक था अपने से बाहर, दावा और देय दोनों समान वज़न मिलाकर चला करते थे। अब अपना प्रभुत्व अपनेको ही चलाने लगा। दावी और देय एक जगह मिल गए। अब दिन छुट्टी और काम के ताने-बाने से बुने हुए जाल की तरह नहीं रहे, ठोस हो गए। जो जवाबदेही मन के ऊपर ख़ुद लाद ली गई होती है उसे इच्छा करते ही छोड़ दिया जा सकता है, इसीलिये उसका

ज़ोर इतना कड़ा होता है। और कुछ नहीं, स्त्री का ऋण तो पहले चुकाना ही होगा, फिर धीरे-धीरे चलने का समय निकाला जा सकेगा। बाएँ हाथ की कलाई पर घड़ी, सिर पर सोले की टोपी, आस्तीन चढ़ी हुई, ख़ाक़ी पैन्ट पर चमड़े का कमरबन्द कसा हुआ, मोटे तल्लेवाला जूता, धूप से बचाने के लिये आँखों पर रङ्गीन चश्मा—शशांक कमर कसकर काम में लग गया। स्त्री का ऋण जब प्रायः चुकने आया तब भी स्टीम का दम कम नहीं हुआ। मन तब तक गर्म हो उठा था।

इसके पहले गृहस्थी में आय और व्यय की धारा एक ही नाले में बहती थी। अब इसमें दो शाखाएँ हो गईं। एक गई बैंक की ओर और दूसरी घर की ओर। शर्मिला का पावना पहले की तरह ही है। वहाँ के लेन-देन का रहस्य शशांक को नहीं मालूम। उधर व्यवसाय का वह चमड़े से बँधा हुआ खाता शर्मिला के लिये भी एक दुर्गम दुर्ग के समान है। इसमें कोई नुक़सान नहीं, किन्तु पति के व्यावसायिक जीवन का कक्ष-पथ उसके संसार-चक्र से बाहर पड़ जाने से उस ओर से उसका विधि-विधान उपेक्षित होता रहता है। गिड़गिड़ाकर कहती, "बहुत-ज़्यादती मत करो, शरीर टूट जायगा।" किन्तु कोई

फल नहीं होता और आश्चर्य यह है कि शरीर भी नहीं टूटता। स्वास्थ्य का उद्वेग, विश्राम के अभाव का आक्षेप, आराम की तफ़सील को व्यस्तता इत्यादि नाना प्रकार की दांपत्यिक उत्कंठाओं की ज़बर्दस्ती उपेक्षा करके शशांक तड़के उठता है, सेकंडहैंड फ़ोर्ड गाड़ी को ख़ुद हाँकता हुआ भोंपू बजाता निकल पड़ता है। कोई दो-ढाई बजे घर लौटता है, डाँट खाता है और उसके साथ ही साथ बाक़ी खाने को भी जल्दी जल्दी हाथ चलाकर ख़त्म करता है।

एक दिन उसकी मोटर गाड़ी दूसरी गाड़ी से लड़ गई। ख़ुद तो बच गया लेकिन गाड़ी को चोट आई। उसे मरम्मत के लिये भेज दिया। शर्मिला चिन्तित हो उठी। भर्राए हुए गले से बोली, "आज से तुम ख़ुद गाड़ी नहीं चला सकोगे।"

शशांक ने हँसकर उड़ा दिया, कहा, "दूसरे के हाथ का ख़तरा भी एक ही जाति का दुश्मन है।"

एक दिन मरम्मत के काम की जाँच करते समय जूते को छेदकर टूटे पैकिंग बाक्स का कोई कीला उसके पैर में घुस गया, अस्पताल जाकर बैंडेज बँधाया और धनुष्टंकार

का टीका लिया। उस दिन रो-धोकर शर्मिला ने कहा, "कुछ दिन आराम करो।"

शशांक अत्यंत संक्षेप में बोला, "काम।" इससे अधिक संक्षेप करके वाक्य नहीं कहा जा सकता।

शर्मिला बोली, "किन्तु"—इस बार विना बोले ही शशांक बैंडेज-समेत काम पर चला गया।

ज़ोर-ज़बर्दस्ती की हिम्मत अब नहीं रही। अपने निज के क्षेत्र में अब पुरुष का ज़ोर दिखाई पड़ा है। युक्ति, तर्क, आरज़ू-मिन्नत सबके बाहर एकमात्र बात रह गई है, "काम है।" शर्मिला बेकार उद्विग्न होकर बैठी रहती। देर होते ही सोचती, मोटर लड़ गई होगी। धूप लगने से जब पति का मुँह लाल हो गया होता है तो सोचती, ज़रूर इन्फ्लुएंज़ा हुआ है। डरती-डरती डाक्टर की बात उठाती है—लेकिन पति का भाव देखकर वहीं रुक जाती है। दिल खोलकर उद्वेग प्रकट करने का भी आजकल साहस नहीं होता।

शशांक देखते-देखते धूप में झुलस गया है और चिड़-चिड़ा हो गया है। छोटी कसी हुई धोती, वैसी ही छोटी कसी हुई फ़ुर्सत, चाल-ढाल तेज़, बातचीत चिनगारी की तरह संक्षिप्त। शर्मिला की सेवा इस द्रुत लय के

साथ ताल मिलाकर चलने की कोशिश करती है। स्टोव के पास कुछ खाना हमेशा गर्म रखना पड़ता है, क्योंकि कब अचानक पति कह उठेंगे, "चलो! लौटने में देर होगी"। मोटर गाड़ी में सोडा-वाटर और एक छोटे टीन के बक्स में खाने की सूखी चीज़ें रखी रहती हैं। एक यूडीकोलोन की शीशी विशेष दृष्टिगोचर करके ही रखी जाती है—कदाचित् सिर में दर्द हो आए। गाड़ी लौटने पर परीक्षा करके देखती है तो कोई भी वस्तु व्यवहार में लाई गई नहीं होती। उदास हो जाती है। साफ़ कपड़ा सोने के घर में प्रतिदिन प्रकाश्य रूप में सजाकर रखा रहता है, फिर भी कम-से-कम सप्ताह में चार दिन शशांक को धोती बदलने का अवकाश भी नहीं मिलता। घर-गृहस्थी का परामर्श ख़ूब संक्षेप में उपस्थित करना होता है, ज़रूरी टेलिग्राम की ठोकरमार भाषा के ढँग पर, वह भी चलते-चलते, पीछे से पुकारते और यह कहते-कहते "अजी सुनते हो, एक ज़रा सी बात है।" उसके व्यवसाय में शर्मिला का जो थोड़ा सा सम्बन्ध था वह भी कट गया, उसका रुपया सूद-मूर समेत लौट आया। सूद भी दिया है माप-जोख करके हिसाब से, बदस्तूर रसीद लेकर। शर्मिला कहती, "बाप रे, प्रेम में

भी पुरुष अपने को पूरा नहीं मिला पाता। थोड़ा-सा जगह ख़ाली छोड़ देता है। वहीं उसके पौरुष का अभिमान रहता है।"

लाभ के रुपये से शशांक ने भवानीपुर में मन-माफ़िक एक बड़ा मकान खड़ा किया है। वह उसके शौक़ की चीज़ है। स्वास्थ्य, आराम, शृङ्खला के नये-नये प्लैन उसके दिमाग़ में आते हैं। कोशिश है शर्मिला को अचरज में डाल देने को। शर्मिला भी बाक़ायदा चकित होने में कोई कसर नहीं रखती। इंजीनियर ने एक कपड़े धोनेवाली कल स्थापित की। शर्मिला ने घूम-फिरकर देखा और ख़ूब तारीफ़ की। मन ही मन बोली, "कपड़े आज भी जिस तरह धोबी के घर जाते हैं, कल भी जाएँगे। मैले कपड़ों के गर्दभवाहन को तो समझ गई हूँ किन्तु उसके विज्ञान-वाहन को नहीं समझती।" आलू के छिलके छुड़ानेवाले यंत्र को देखकर वह अचरज से ठक रह गई, बोली, "आलू की रसीली सब्ज़ी बनाने की बारह आना तकलीफ़ इससे जाती रहेगी।" बाद में सुना गया कि वह यंत्र फूटा डेकची, टूटी केटली आदि के साथ एक विस्मृति-शय्या पर नैष्कर्म्य पा गया है।

मकान बनकर जब तयार हो गया तो उस स्थावर

पदार्थ के प्रति शर्मिला के रुद्ध स्नेह का उद्यम पिल पड़ा। सुभीता यह था कि ईंट-काठ के शरीर में धैर्य अटल बना रहता है। साजने-संवारने के महा उद्यम में दो दो नौकर हाँफ उठे। एक तो भाग ही खड़ा हुआ। कमरों की सजावट शशांक को मन में रखकर होने लगी। बैठकखाने में वह आजकल अक्सर बैठता ही नहीं, फिर भी उसीकी थकी पीठ की रीढ़ के लिये नये .फैशन के कुशन सजाए गए; फूलदानी एक-आध नहीं अनेकों; तिपाई पर, टेबुल पर, फूल-कढ़े झालरदार आवरण। सोने के कमरे में आजकल दिन को शशांक का आना एकदम बंद है, क्योंकि उसके आधुनिक पत्रे में रविवार भी सोमवार का जुड़वाँ भाई है। दूसरी छुट्टियों में भी जब काम बंद रहता है तो भी वह कोई न कोई छिटफुट कार्य खोज ही निकालता है, आफ़िसवाले कमरे में प्लैन बनानेवाला तेलहा काग़ज़ या बही-खाता लेकर बैठ जाता है। फिर भी पुराना नियम चल रहा है। मोटी गद्दीवाले सोफ़ा के सामने रेशमी चप्पलों के जोड़े तैयार रहते हैं। वहाँ पहले के समान ही पनबट्टे में पान सजा रहता है। आले पर पर पतले सिल्क का कुर्ता टँगा रहता है, चुनी हुई धोती लटकती रहती है। आफ़िस के कमरे में

हस्तक्षेप करने में हिम्मत की ज़रूरत थी, तो भी जब शशांक वहाँ नहीं रहता उस समय शर्मिला हाथ में झाड़न लेकर प्रवेश करती है। वहाँ की रक्षणीय और वर्जनीय वस्तुओं में सजावट और शृंखला का समन्वय करने में उसका अध्यवसाय तनिक भी प्रतिहत नहीं होता।

शर्मिला सेवा करती है, किन्तु आजकल उस सेवा का बहुत बड़ा हिस्सा शशांक की दृष्टि के अगोचर ही रहता है। पहले उसका जो आत्मनिवेदन प्रत्यक्ष के निकट था अब उसीका प्रयोग प्रतीक के प्रति चल रहा है,—घर-द्वार सजाने में, फूल-पत्ता लगाने में, शशांक की बैठनेवाली कुर्सी को रेशम से ढँकने में, तकियों के पर्दों पर फूल काढ़ने में, आफ़िसवाले टेबुल के कोने में नील स्फटिक की फूलदानी को रजनीगन्धा के गुच्छों से सजाने में।

उसे अपने अर्घ्य को पूजा-वेदी से दूर स्थापित करना पड़ा, लेकिन बड़े कष्ट से। अभी कुछ दिन पहिले ही जो आघात लगा था उसका चिन्ह निर्जन में आँख के पानी से पोंछना पड़ा। उस दिन कार्तिक की उन्नीसवीं तारीख़ थी, यही शशांक का जन्मदिन है। शर्मिला के जीवन में यह सबसे बड़ा पर्व है। नियमानुसार बन्धु-बांधवों का

निमंत्रण किया गया। घर-द्वार विशेष भाव से फूल पत्तों से सजाया गया।

प्रातःकाल काम ख़त्म करके शशांक घर लौटकर बोला, "मामला क्या है, गुड़ियों का ब्याह है क्या ?"

"हाय रे भाग्य, आज तुम्हारा जन्मदिन है, यह भी भूल गए ? कुछ भी कहो, आज शाम को तुम बाहर नहीं जा सकते।"

"बिज़िनेस मृत्यु-दिन के अतिरिक्त और किसी दिन के सामने सिर नहीं झुकाता।"

"फिर कभी नहीं कहूँगी, आज लोगों को निमंत्रण दे चुकी हूँ।"

"देखो शर्मिला, तुम मुझे खिलौना बनाकर दुनिया भर के लोगों को बुलाकर खिलवाड़ करने की कोशिश मत करो।" इतना कहकर शशांक तेज़ी से चला गया। शर्मिला सोनेवाले कमरे का द्वार बन्दकर थोड़ी देर तक रोती रही।

शाम को निमन्त्रित लोग आए। बिज़िनेस के सर्वोच्च दावे को सभीने सहज ही स्वीकार कर लिया। यह यदि कालिदास का जन्मदिन होता और उन्होंने शकुन्तला का तृतीय अंक लिखने की उज़्र पेश की होती तो सभीने

उसे निश्चय ही एक अत्यन्त बेकार बहाना समझा होता। लेकिन बिज़िनेस! आमोद-प्रमोद पर्याप्त हुए। नीलूबाबू ने थियेटर की नक़ल करके सबको ख़ूब हँसाया। शर्मिला ने भी इस हँसी में योग दिया। शशांक-रहित शशांक के जन्मदिन ने शशांक-अधिष्ठित बिज़िनेस को साष्टांग प्रणिपात किया।

दुःख काफ़ी हुआ, तथापि शर्मिला के मन ने भी दूर से ही शशांक के इस धावमान कर्म-रथ की ध्वजा को प्रणिपात किया। उसके पास वह दुरधिगम्य कार्य है जो किसीकी ख़ातिर नहीं रुकता, किसीको नहीं मानता, स्त्री की विनती को भी नहीं, मित्रों के निमन्त्रण को भी नहीं, ख़ुद के आराम को भी नहीं। कार्य के प्रति इस श्रद्धा के द्वारा पुरुष अपने-आपको श्रद्धा करता है, यह है उसका अपनी शक्ति के निकट अपने-आपका निवेदन। शर्मिला गृहस्थी की रोज़-रोज़ की कर्मधारा के इस पार खड़ी होकर संभ्रम के साथ देखती रही है दूसरे किनारे पर चलनेवाले शशांक के कार्य को। उसकी सत्ता बहु-व्यापक है, घर की सीमा छोड़कर दूर देश को चली जाती है—सुदूर समुद्र के पार, जाने-अनजाने कितने ही लोगों को वह अपने शासन-जाल में खींच लाती है।

पुरुष अपने अदृष्ट के साथ नित्य जूझता रहता है, उसके कठोर मार्ग में यदि स्त्रियों का कोमल बाहुबन्धन विघ्न उपस्थित करने आवे तो निश्चय ही वह उसे निर्मम भाव से छिन्न कर देगा ! इस निर्ममता को शर्मिला ने भक्ति-पूर्वक स्वीकार कर लिया। फिर भी बीच-बीच में उससे रहा नहीं जाता। जहाँ हृदय के आकर्षण को कोई अधिकार नहीं, वहाँ भी वह अपनी करुण उत्कण्ठा ले जाती, चोट खाती, परन्तु इस चोट को प्राप्य समझकर व्यथित चित्त से रास्ता छोड़कर लौट आती। जहाँ उसकी अपनी गति-विधि अवरुद्ध थी वहाँ देवता को पुकारकर कहती, 'तुम अपनी दृष्टि रखना।'

नीरद्

जिस समय इस परिवार की समृद्धि बैंक में जमा किए हुए रुपयों पर सवार होकर छः अंकों की संख्या की ओर दौड़ चली थी उसी समय शर्मिला को किसी दुर्बोध्य व्याधि ने धर दबाया, उठने-बैठने की शक्ति भी न रही। यह बता देने की ज़रूरत है कि इस बात को लेकर मग़ज़ खपाने की क्या ज़रूरत पड़ गई।

राजाराम बाबू शर्मिला के पिता थे। बैरीशाल ज़िले की ओर और गंगा के मुहाने पर उनकी कई बड़ी जमींदारियाँ थीं। इसके सिवा शालीमार के घाटवाले जहाज़ बनाने के रोज़गार में भी उनका शेयर था। उनका जन्म पुराने ज़माने की सीमा पर और इस काल के शुरू में ही हुआ था। कुश्ती में, शिकार में, लाठी चलाने में उस्ताद थे। पखावज बजाने में उनका नाम था। मर्चेन्ट आफ़ वेनिस, जुलियस सीज़र और हैमलेट से दो चार पन्ना कंठस्थ बोल जा सकते थे। मेकाले की अंग्रेज़ी उनका आदर्श थी। बर्क की वाग्मिता पर मुग्ध थे।

बँगला में उनकी श्रद्धा मेघनाद्वध काव्य तक ही सीमित थी। अधेड़ अवस्था में शराब तथा अन्य निषिद्ध भोज्य वस्तुओं को आधुनिक चित्तोत्कर्ष का आवश्यक अंग मानते थे। आख़िरी उम्र में छोड़ दिया था। पहनावा उनका जतन से सँवारा हुआ होता। मुख-श्री सुन्दर और गम्भीर थी। देह लंबी और मज़बूत, मिज़ाज मजलिसी। याचक के आग्रह पर ना नहीं कर सकते थे। पूजा-पाठ में कोई निष्ठा नहीं थी, फिर भी घर पर उसका आयोजन बड़े समारोह के साथ होता। इस समारोह के द्वारा ही वंशगत मर्यादा प्रकट होती, पूजा तो स्त्रियों और दूसरे लोगों के लिये थी। चाहते तो अनायास ही राजा की उपाधि पा सकते ; उसके प्रति उदासीनता का कारण पूछने पर राजाराम हँसकर कहते, 'पिता को दी हुई राजा की उपाधि तो भोग ही रहा हूँ, इसपर दूसरी उपाधि बैठाने से उसका सम्मान कम हो जायगा'। गवर्नमेण्ट हाउस की विशेष ड्योढ़ी में उनका स-सम्मान प्रवेश था। अंग्रेज़ अफ़सरान उनके घर पर चिर-प्रचलित जगद्धात्री पूजा के समय शैम्पेन का प्रसाद ख़ासी मात्रा में अंतरस्थ करते थे।

शर्मिला के विवाह के बाद उनके पत्नी-हीन घर में बड़ा लड़का हेमन्त और छोटी लड़की ऊर्मिमाला रह

गई। लड़के को अध्यापक लोग दीप्तिमान कहा करते थे—अर्थात् जिसे अंग्रेज़ी में ब्रीलियेन्ट कहते हैं। चेहरा पीछे फिरकर देखने लायक़ था। ऐसा विषय नहीं था, जिसमें उसकी विद्या परीक्षामापक यंत्र के सबसे ऊँचेवाले मार्क तक नहीं पहुँची हो। इसके सिवा ऐसे लक्षण काफ़ी प्रबल थे कि व्यायाम के उत्कर्ष में वह बाप के नाम की लाज बचाएगा। कहना व्यर्थ है कि उसके चारों ओर उत्कंठित कन्या-मंडली की कक्ष-परिक्रमा तेज़ी से चल रही थी, किन्तु तब भी उसका मन विवाह की ओर उदासीन ही था। तात्कालिक लक्ष्य यूरोपीय विश्वविद्यालय की उपाधि प्राप्त करना ही था। इसी उद्देश्य को सामने रखकर उसने फ्रेंच और जर्मन सीखना शुरू किया था।

और कुछ करने को न होने से, अनावश्यक होने पर भी, जब उसने क़ानून पढ़ना शुरू किया उसी समय हेमन्त के अन्त्र (आँत) में अथवा शरीर के किसी और यन्त्र में न जाने कौन-सा ऐसा विकार उत्पन्न हुआ कि उसका पता डाक्टरों को चल ही नहीं सका। वह गोपनचारी रोग उस मज़बूत शरीर में इस प्रकार घर कर गया मानो किसी प्रबल दुर्ग का आश्रय लिए हो। उसे

खोज निकालना जितना कठिन हुआ उतना ही उसपर आक्रमण करना भी। उन दिनों के एक अंग्रेज़ डाक्टर पर राजाराम की अविचिलित आस्था थी। अस्त्र-चिकित्सा में उनके हाथों यश भी था। इसी डाक्टर ने रोगी के शरीर में खोज शुरू की। अस्त्र-व्यवहार के अभ्यास-वश उन्होंने अनुमान किया कि देह के दुर्गम अन्तराल में कहीं विपत्ति जड़ जमाकर बैठी है, उसे उखाड़ फेंकना चाहिए। अस्त्र-चिकित्सा के कौशल की सहायता से स्तर भेद करने के बाद जो स्थान अनावृत हुआ वहाँ कल्पित शत्रु भी नहीं मिला और उसके अत्याचार का चिह्न भी नहीं। भूल सुधारने का उपाय ही नहीं रहा, लड़का चल बसा। पिता के मन में जो विषम दुःख हुआ वह किसी प्रकार शान्त होना नहीं चाहता। मृत्यु ने उनको उतना कष्ट नहीं दिया परन्तु एक ऐसी सजीव, सुन्दर और बलिष्ठ देह के चीर-फाड़ की स्मृति ने उनके मन को दिनरात काले हिंस्र पक्षी की तरह अपने तीक्ष्ण नखों से जकड़ रखा। मर्मशोषण करके उसने उन्हें मृत्यु की ओर खींच लिया।

हेमन्त का पहले का सहपाठी नया पास डाक्टर नीरद मुखर्जी उसकी शुश्रूषा में लगा था। वह बराबर ज़ोर

देकर ही कहता आ रहा था कि ग़लती हो रही है। उसने ख़ुद बीमारी का एक निदान किया था और किसी सूखी जगह में आबहवा बदलने का परामर्श दिया था, किन्तु राजाराम के मन में अपने पैतृक युग का संस्कार अटल था। वे जानते थे कि यमराज के साथ दुःसाध्य लड़ाई छिड़ जाने पर उसका उपयुक्त प्रतिद्वन्द्वी एकमात्र अंग्रेज़ डाक्टर ही हो सकता है। किन्तु इस मामले में नीरद पर उनके स्नेह और श्रद्धा की मात्रा ज़रूरत से ज्यादा बढ़ गई। उनकी छोटी कन्या ऊर्मि के मन में अचानक यह बात उदय हुई कि इस आदमी की प्रतिभा असामान्य है। पिता से बोली, देखा बाबू जी, थोड़ी उम्र में भी अपने ऊपर कितना विश्वास है और इतने बड़े नामवर विलायती डाक्टर के विरुद्ध अपने मत को निःसंशय घोषित कर सकने का कैसा असंकुचित साहस है!

पिता ने कहा, "डाक्टरी विद्या केवल शास्त्र पढ़ने से नहीं आती। किसी-किसी में उसका दुर्लभ दैव-संस्कार पाया जाता है। नीरद में ऐसा ही देख रहा हूँ।"

इनकी भक्ति एक छोटे प्रमाण से शुरू हुई थी—शोक का आघात पाकर और परिताप की वेदना लेकर। इसके

बाद किसी और सुबूत का इन्तेज़ार न करके वह अपने आप बढ़ चली।

राजाराम ने एकदिन लड़की से कहा, "देख ऊर्मि, ऐसा लगता है कि हेमन्त मुझे बराबर बुला रहा है। कह रहा है, मनुष्य का रोग-कष्ट दूर करो। मैंने निश्चय किया है, उसके नाम से एक अस्पताल खोलूँगा।"

ऊर्मि अपने स्वभावसिद्ध उत्साह से उच्छ्वसित होकर बोली, "बहुत अच्छा होगा। मुझे यूरोप भेज देना ताकि वहाँ से डाक्टरी सीखकर मैं अस्पताल का भार सँभाल सकूँ।"

बात राजाराम के जी को पट गई, बोले, "वह अस्पताल होगा देवोत्तर सम्पत्ति और तू होगी उसकी सेवायत। हेमन्त बड़ा दुःख पा गया है। तुझे वह बहुत प्यार करता था, तेरे इस पुण्य कार्य से वह परलोक में शान्ति पायगा। तूने उसकी रोग-शय्या पर दिनरात उसकी सेवा की है, वही सेवा तेरे हाथों और भी बड़ी हो उठेगी।" खान्दानी घर की लड़की डाक्टरी करेगी यह भी वृद्ध के मन में कुछ बेखाप-सा नहीं लगा। उन्होंने अपने मर्मस्थल में अनुभव किया कि रोग के हाथ से आदमी को बचाना कितनी बड़ी बात है। उनका लड़का

नहीं बच सका किन्तु दूसरों के लड़के अगर बच जायँ तो जैसे उसकी क्षति-पूर्ति हो जायगी और उनका अपना शोक हल्का हो जायगा। लड़की से बोले, "यहाँ की यूनिवर्सिटी में विज्ञान की पढ़ाई पहले ख़त्म हो जाय, फिर इसके बाद यूरोप में।"

अब से राजाराम के मन में एक बात चक्कर काटने लगी—उसी नीरद की बात। लड़का क्या है सोने का टुकड़ा है। जितना ही देखो उतना ही सुन्दर लगता है। डाक्टरी पास कर ली है सही, किन्तु परीक्षा के दुर्गम बयाबान को पार करके डाक्टरी-विद्या के सात समुद्रों में दिनरात तैर रहा है। उम्र कच्ची है, फिर भी आमोद-प्रमोद आदि से उसका मन बिल्कुल चञ्चल नहीं होता। हाल में जितने भी आविष्कार हुए हैं उन्हींकी उलट-पलटकर आलोचना करता है, जाँच करता है और नुक़सान पहुँचाता है अपनी कीर्ति के प्रसार को। जिन लोगों की जम गई है उनके प्रति उसकी अत्यन्त अवज्ञा है। कहा करता है, 'मूर्ख व्यक्ति उन्नति प्राप्त करते हैं और योग्य व्यक्ति गौरव।' यह बात किसी पुस्तक से उसने संग्रह की है।

आख़िरकार एक दिन राजाराम ने ऊर्मि से कहा, "मैंने

सोचकर देखा, हमारे अस्पताल में तू यदि नीरद की संगिनी होकर काम करे तभी यह काम संपूर्ण होगा और मैं भी निश्चिन्त हो सकूँगा। उसके समान लड़का मैं और पाऊँगा कहाँ ?

राजाराम और चाहे जा कर सकते हों हेमन्त का मत अग्राह्य नहीं कर सकते। वह कहा करता, लड़की की पसन्द की उपेक्षा करके माँ-बाप की पसन्द से विवाह करना बर्बरता है। राजाराम ने एक बार तर्क किया था कि विवाह का मामला केवल व्यक्तिगत नहीं, उसके साथ संसार भी जड़ित है, इसीलिये विवाह सिर्फ़ इच्छा-द्वारा नहीं बल्कि अभिज्ञता-द्वारा चालित होना चाहिए। वे तर्क चाहे जैसा करें और उनकी रुचि चाहे जैसी रही हो, हेमन्त पर उनका स्नेह इतना गम्भीर था कि उसकी इच्छा ही इस परिवार में विजयी हुई।

इस घर में नीरद मुखुज्जे का आना जाना होता था। हेमन्त ने उसका नाम दिया था आउल अर्थात् उल्लू। अर्थ पूछने पर वह बताता कि यह आदमी पौराणिक अर्थात् माइथालौजिकल है। उसकी उम्र नहीं है, है केवल विद्या, इसीलिये मैं उसे मिनर्वा का वाहन कहता हूँ। नीरद इनके घर बीच-बीच में चाय पीने आया

करता। हेमन्त के साथ ख़ूब बहस करता। मन ही मन ऊर्मि को भी निश्चय ही लक्ष्य करता, किन्तु व्यवहार में नहीं। इसका कारण यह है कि इस मामले का यथोचित व्यवहार ही उसके स्वभाव में नहीं है। वह बहस कर सकता है लेकिन बात-चीत करना नहीं जानता। यौवन का उत्ताप यदि उसमें रहा भी हो तो उसका प्रकाश नहीं था, इसीलिये जिन नौजवानों में यौवन पूरी तरह प्रकाशमान होता, उनके प्रति अवज्ञा प्रकट करके ही वह सन्तोष पाता। इन्हीं सब कारणों से कोई भी उसे ऊर्मि के उम्मीदवारों की श्रेणी में गिनने का साहस नहीं करता था। फिर भी ऊपर से दीखने-वाली यह निरासक्ति ही वर्तमान कारण से युक्त होकर उसपर ऊर्मि की श्रद्धा को सम्भ्रम की सीमा में खींच ले गई। राजाराम ने जब स्पष्ट रूप से ही कहा कि यदि लड़की के मन में कोई द्विधा न हो तो नीरद के साथ ही विवाह होने से उन्हें प्रसन्नता होगी, तब लड़की ने अनुकूल इङ्गित से ही सिर हिलाया। केवल इसके साथ इतना और जता दिया कि इस देश की और विलायत की पढ़ाई ख़त्म कर चुकने के बाद ही विवाह होगा। पिता ने कहा, यही ठीक है। किन्तु परस्पर की सम्मति से

सम्बन्ध पक्का हो जाने के बाद स्पष्ट ही और कोई चिन्ता नहीं रह जाती।

उधर नीरद की सम्मति पाने में देर नहीं लगी, यद्यपि उसकी भावभङ्गी से यही प्रकट हुआ कि विवाह का सम्बन्ध वैज्ञानिक के लिये एक बड़ा भारी त्याग है—प्रायः आत्मघात के आसपास का। शायद इसी दुर्योग को किसी प्रकार शमन करने के उपाय-स्वरूप यही शर्त तय पाई गई कि सब बातों में नीरद ऊर्मि की रहनुमाई करेगा अर्थात् अपनी भावी पत्नी के रूप में उसे धीरे-धीरे अपने ही हाथों तैयार कर लेगा। यह भी होगा वैज्ञानिक ढँग से, दृढ़-नियन्त्रित नियमों के अनुसार, लैबोरेटरी की अभ्रान्त प्रक्रिया के समान।

नीरद ने ऊर्मि से कहा, "पशु-पक्षी प्रकृति के कारखाने से बने-बनाए माल की तरह तैयार निकलते हैं लेकिन मनुष्य कच्चा माल है, उसे तैयार करने का भार स्वयं मनुष्य पर ही है।"

ऊर्मि ने नम्रता के साथ कहा, "अच्छी बात है, परीक्षा कीजिए, बाधा नहीं पाएँगे।"

नीरद ने कहा, "तुममें नाना प्रकार की शक्तियाँ हैं। उन्हें बाँधना होगा तुम्हारे जीवन के एकमात्र लक्ष्य के

चारों ओर। तभी तुम्हारा जीवन सार्थक होगा। किसी अभिप्राय के आकर्षण से विक्षिप्त को संक्षिप्त करना पड़ेगा, वह कसा जायगा, डायनेमिक होगा, तभी उस एकत्व को मारल आर्गेनिज़्म कहा जा सकेगा।"

ऊर्मि ने पुलकित होकर सोचा, अनेक युवक तो उनके घर चाय की टेबुल पर उपस्थित हुए हैं, टेनिस कोर्ट में आए हैं परन्तु सोचने के लायक़ बात उन्होंने कभी नहीं कही, दूसरा कोई कहे भी तो जमुहाने लगते हैं। असल में किसी भी बात को अत्यन्त गम्भीर भाव से कहने का एक अपना ढँग है नीरद के पास। वह जो भी कहता, उसीमें ऊर्मि को एक आश्चर्यजनक तात्पर्य मालूम होता, वह उसे अत्यधिक इन्टेलेक्चुअल जान पड़ता।

राजाराम ने अपने बड़े दामाद को भी बुलाया। बीच-बीच में निमन्त्रण का बहाना बनाकर एक-दूसरे से अच्छी तरह परिचय करा देने की चेष्टा की। शशांक ने शर्मिला से कहा, "इस लड़के के पेट की दाढ़ी असह्य है। वह समझता है हम सब लोग उसके विद्यार्थी हैं। सो भी आगे बैठनेवाले नहीं, आख़िरी बेंच के आख़िरी कोनेवाले।"

शर्मिला ने हँसकर कहा, "यह तुम्हारी जेलेसी है। क्यों, मुझे तो वह बहुत अच्छा लगता है।"

शशांक ने कहा, "छोटी बहन के साथ स्थान-परिवर्तन करने का विचार कैसा है ?"

शर्मिला बोली, "तब तो तुम शायद शान्ति की साँस लोगे, मेरी बात और है।"

शशांक के प्रति नीरद का भ्रातृभाव भी कुछ बढ़ा हुआ नहीं लगता। शशांक मन ही मन कहता, 'यह तो मज़दूर आदमी है, इसे वैज्ञानिक कौन कहे! हाथ तो हैं लेकिन दिमाग़ कहाँ!"

शशांक नीरद को लक्ष्य करके साली से मज़ाक करता, "अब पुराना नाम बदलने का मौक़ा आ गया।"

"अंग्रेज़ी मत से ?"

"नहीं विशुद्ध संस्कृत मत से।"

"ज़रा सुनूँ तो सही नया नाम।"

"विद्युत्-लता। नीरद को पसन्द होगा। लैबोरेटरी में इस चीज़ के साथ उसका परिचय हुआ है, इस बार घर में बँधी मिलेगी।"

मन ही मन कहता, 'सचमुच ही यह नाम इसे फबेगा।' जी के भीतर ही भीतर जैसे कोई कुरेद उठता : 'हाय रे, इतने बड़े घमंडी के हाथ में ऐसी लड़की पड़ेगी!'—कहना कठिन

है कि किसके हाथों पड़ने से शशांक की रुचि को सन्तोष और सान्त्वना मिलती।

थोड़े ही दिनों में राजाराम की मृत्यु हो गई। ऊर्मि के भावी स्वत्वाधिकारी—नीरदनाथ—ने एकाग्र मन से उसको नये सिरे से गढ़ने का भार सँभाला।

ऊर्मिमाला देखने में जितनी अच्छी है, दिखती उससे भी कहीं अच्छी है। उसके चंचल शरीर में मन की उज्ज्वलता झिलमिलाया करती है। उसकी उत्सुकता सब विषयों में है। सायंस में जितना उसका मन लगता है, साहित्य में उससे ज़्यादा ही लगता है, कम नहीं। मैदान में फ़ुटबाल का खेल देखने में उसका आग्रह असीम है। सिनेमा देखने को भी वह बुरा नहीं समझती। प्रेसिडेन्सी कालेज में विदेश से कोई फ़िज़िक्स का व्याख्याता आया है तो वह वहाँ भी हाज़िर है। रेडियो सुनने के लिये कान खड़े रखती है। ख़ूब संभव है, सुनकर कह उठे, छिः, लेकिन कौतूहल भी कम नहीं है। बारात के आगे-आगे बजते हुए बाजों के साथ वर निकल जाता तो दौड़कर बरामदे में आ खड़ी होती। चिड़ियाख़ाने में बार-बार सैर करने जाती, आनन्द भी पाती, विशेषकर बंदरों के

पिंजड़ों के पास खड़े होने में तो उसकी ख़ुशी का ठिकाना ही नहीं रहता। पिता जब मछली पकड़ने जाते तो बंसी लेकर वह भी बग़ल में बैठ जाती। टेनिस खेलती, और बैडमिंटन में तो उस्ताद थी। यह सब उसने अपने बड़े भैया से सीखा था। पतली तो वह संचारिणी लता के समान थी, हवा लगी नहीं कि झूम उठी। साज-सिंगार सहज और परिपाटीयुक्त। वह जानती है कि किस प्रकार साड़ी को इधर-उधर थोड़ा खींच-खाँचकर घुमा-फिराकर ढीला या चुस्त करके शरीर की शोभा बढ़ाई जा सकती है और फिर भी उसका रहस्य भेद नहीं किया जा सकता। गाना अच्छा नहीं जानती लेकिन सितार बजाती है। यह संगीत देखने की चीज़ है या सुनने की, कौन बताए! ऐसा लगता कि उसकी चंचल अँगुलियाँ कोलाहल कर रही हैं। उसे बोलने के विषय की कभी कमी नहीं होती, हँसने के लिये उचित कारण का इंतज़ार नहीं करना पड़ता। साथ देने की उसकी क्षमता अजस्र थी, जहाँ रहती वहाँ के अन्तराल को अकेली ही भर रखती। सिर्फ़ नीरद के पास वह कुछ और ही हो जाती है। मानों पालवाली नाव के लिये हवा की गति ही बंद हो गई हो और वह रस्सी के खिंचाव से नम्र मंथर गति से चलने लगी हो।

सभी लोग कहते, ऊर्मि का स्वभाव उसके भाई के समान ही प्राण से परिपूर्ण है। ऊर्मि जानती है, उसके भाई ने ही उसके मन को मुक्ति दी है। हेमन्त कहा करता, 'हमारे घर अलग-अलग साँचों के समान होते हैं। मिट्टी के मनुष्य ढालना ही उनका काम है। तभी तो इतने दिनों से विदेशी बाजीगर इतनी सरलता से तेतीस करोड़ पुतलियों को नचाए जा रहा है।' वह कहता, 'जब समय आएगा तो मैं इस सामाजिक मूर्तिपूजा को तोड़ने के लिये कालापाहाड़-जैसा आचरण करूंगा।' उसे समय नहीं मिला, लेकिन ऊर्मि के मन को वह ख़ूब सजीव बनाकर छोड़ गया।

कठिनाइयाँ खड़ी हो गईं। नीरद की कार्यप्रणाली अत्यन्त विधिवत् थी। उसने ऊर्मि के लिये पढ़ाई का क्रम बाँध दिया। उपदेश देते हुए कहा, "देखो ऊर्मि, रास्ता चलते-चलते मन को केवल छलका डालोगी तो रास्ते के अंत में जब पहुँचोगी तो घड़े में बच ही क्या रहेगा!"

कभी कहता, "तुम तितली की तरह चंचल होकर घूमती-फिरती हो, संग्रह कुछ भी नहीं करतीं। होना पड़ेगा मधुमक्खी की तरह। प्रत्येक मुहूर्त का हिसाब

रखना पड़ेगा। जीवन कोई विलासिता तो है नहीं।"

हाल ही में नीरद ने इम्पीरियल लायब्रेरी से मँगाकर शिक्षातत्त्व पर लिखी हुई कुछ पुस्तकें पढ़नी शुरू की हैं। उनमें ऐसी ही सब बातें लिखी हैं। उसकी भाषा पुस्तकी भाषा है, क्योंकि उसके पास अपनी कोई सहज भाषा नहीं है। ऊर्मि को अपने अपराधी होने में कोई सन्देह नहीं रहा। व्रत उसका महान् है और फिर भी बात-बात में मन इधर-उधर खिसक पड़ता है। वह अपने-आपको बराबर धिक्कार दिया करती है। सामने ही दृष्टान्त है नीरद का; कैसी आश्चर्य दृढ़ता है, कैसा एकाग्र लक्ष्य है, सब प्रकार के आमोद और आह्लादों के प्रति कैसी कठोर विरोधिता है! ऊर्मि की टेबुल पर यदि वह कहानी किंवा किसी हल्के साहित्य की पुस्तक देखता है तो तुरन्त उसे ज़ब्त कर लेता है। एक दिन सायंकाल ऊर्मि की देखरेख करने के लिये आया तो सुना कि वह अंग्रेज़ी नाट्यशाला में शालीवैन के मिकाडो आपेरा का सायंकालिक अभिनय देखने गई है। जब उसका भाई जाता था तो ऐसा सुअवसर प्रायः ही हाथ से निकल नहीं पाता था। उस दिन नीरद ने उसका यथोचित तिरस्कार

किया। अत्यन्त गंभीर सुर से अंग्रेज़ी भाषा में कहा था, 'देखो तुम अपने बड़े भैया की मृत्यु को अपना सारा जीवन देकर सार्थक करने का भार ले चुकी हो। इसी बीच क्या तुम उसे भूलने लगीं?'

सुनकर ऊर्मि को बड़ा कष्ट हुआ। सोचने लगी, 'इस आदमी की अन्तर्दृष्टि कितनी असाधारण है! सचमुच ही तो मेरी शोक-स्मृति की प्रबलता कम होती आ रही है—मैं स्वयं यह समझ नहीं सकी। धिक्कार है। इतनी चपलता है मेरे चरित्र में!' वह सावधान होने लगी। कपड़ों से शोभा का आभास तक दूर कर दिया। साड़ी मोटी हुई। उसके सभी रंग दूर हो गए। आलमारी में जमे रहने पर भी चाकलेट खाने के लोभ को उसने छोड़ दिया। अपने मुँहज़ोर मन को ख़ूब कसकर संकीर्ण सीमा में बाँधने लगी, शुष्क कर्तव्य के खूँटे के साथ। दीदी ने तिरस्कार किया। शशांक ने नीरद को लक्ष्य करके जिन विशेषणों की झड़ी लगा दी, उनकी भाषा शब्दकोष के बाहर की उग्र परदेसी थी। सुश्राव्य तो ज़रा भी नहीं थी।

एक जगह नीरद के साथ शशांक का मेल है। शशांक का गाली देने का आवेग जब तीव्र हो उठता है तो उसकी

भाषा अंग्रेज़ी हो जाती है। उधर नीरद के उपदेश का विषय जब अत्यन्त उच्च श्रणी का होता है तो अंग्रेज़ी ही उसका वाहन बनती है। नीरद को सबसे ख़राब तब लगता है जब निमन्त्रण-आमन्त्रण में ऊर्मि अपनी दीदी के यहाँ जाती है। केवल जाती ही नहीं, जाने के लिये बहुत आग्रह प्रकट करती है। उसके साथ ऊर्मि का जो आत्मीय सम्बन्ध है वह नीरद के साथवाले सम्बन्ध को खण्डित करता है।

नीरद ने मुख गम्भीर करके एक दिन ऊर्मि से कहा, 'देखो ऊर्मि, कुछ बुरा न मानना। क्या करूँ बताओ, तुम्हारा दायित्व मुझपर है इसीलिये कर्तव्य समझकर अप्रिय बात कहनी पड़ती है। मैं तुम्हें सावधान किए देता हूँ, शशांकबाबू के घरवालों के साथ सब समय तुम्हारा मिलना-जुलना तुम्हारे चरित्र-गठन के लिये अस्वास्थ्यकर है। आत्मीयता के मोह से तुम अंधी हो गई हो, लेकिन मैं दुर्गति की सारी सम्भावनाएँ स्पष्ट देख रहा हूँ।'

ऊर्मि की चरित्र नामक जो वस्तु है, कम-से-कम उसकी पहली बन्धकी दलील नीरद के सन्दूक में ही बन्द है, उस चरित्र में यदि कहीं कुछ हेरफेर हो तो नुक़सान

नीरद् का ही है। निषेध का फल यह हुआ कि भवानीपुर की ओर ऊर्मि का आना-जाना कम हो गया। ऊर्मि का यह आत्मशासन एक बड़े ऋण-शोध के समान है। उसके जीवन का दायित्व लेकर नीरद् ने जो हमेशा के लिये अपनी साधना को भाराक्रान्त कर लिया है, उससे बढ़कर विज्ञान-तपस्वी के लिये आत्म-अपव्यय और क्या हो सकता है !

नाना आकर्षणों से मन को खींच लेने का दुःख अब एक प्रकार से ऊर्मि को सह गया है, तो भी रह-रहकर एक वेदना मन में दुर्वार हो उठती है : उसे चञ्चलता कहकर वह सम्पूर्ण रूप से दबा नहीं सकती। नीरद् केवल उसकी परिचालना ही करता है, किन्तु एक क्षण के लिये भी उसकी साधना क्यों नहीं करता। इस साधना के लिये उसका मन राह देखता रहता है,—इस साधना के अभाव में ही उसका हृदय पूर्ण विकास की ओर नहीं पहुँच पाता। उसका समस्त कर्तव्य निर्जीव और नीरस हो जाता है। किसी-किसी दिन अचानक मालूम होता है कि नीरद् की आँख में एक प्रकार का आवेश आया है, मानों अब देर नहीं है, प्राण का गभीरतम रहस्य अभी निकल पड़ेगा। किन्तु अन्तर्यामी जानते हैं कि उस गभीर की

वेदना यदि कहीं हो भी तो उसकी भाषा नीरद की जानी हुई नहीं है। कह नहीं पाता इसीलिये कहने की इच्छा को वह दोष देता है। अपने विचलित चित्त को गूँगा रखकर ही वह जो लौट आता है इसीको अपनी शक्ति का परिचय समझकर गर्व करता है। कहता है, 'सेन्टिमेन्टैलिटी की ओर जाना हमारा कर्तव्य नहीं है।' ऊर्मि को उस दिन रोने की इच्छा होती है किन्तु उसकी भी दशा ऐसी है कि वह भी भक्तिपूर्वक समझती है, इसीको वीरत्व कहते हैं। अपने दुर्बल मन को निष्ठुर भाव से चोट पहुँचाती रहती है। वह जितनी भी कोशिश क्यों न करे बीच-बीच में यह बात उसे साफ़ झलक जाती है कि एक दिन प्रबल शोक के कारण जो कठिन कर्तव्य उसने अपनी इच्छा से ग्रहण किया था, समय पाकर जब वही इच्छा दुर्बल हो आई है तो उसने दूसरे की इच्छा को ही कसकर पकड़ लिया है।

नीरद उससे साफ़-साफ़ ही कहता, "देखो ऊर्मि, साधारण स्त्रियाँ पुरुषों से जिस प्रकार की खुशामदें पीने की आशा रखती हैं, मुझसे उन्हें पाने की कोई सम्भावना नहीं है, यह जान रखो। मैं तुम्हें जो दूँगा वह इन गढ़ी हुई बातों की अपेक्षा सत्य होगा, बहुत मूल्यवान् होगा।"

ऊर्मि सिर झुकाकर चुप हो रहती। मन ही मन सोचती, इनसे क्या कोई भी बात छिपी नहीं रहेगी।

वह किसी भी तरह मन को बाँध न पाती। छत पर अकेली घूमने जाती। अपराह्न का प्रकाश धूसर हो आता। शहर के ऊँचे नीचे नाना आकारों के घरों की चूड़ाएँ पार करके सूर्य अस्त हो जाता,—दूर गंगा के घाट पर जहाज़ों के मस्तूल के उस ओर। नाना रङ्ग के लम्बे-लम्बे मेघों की रेखा दिन की अन्तिम सीमा पर बेड़ा बाँध देती। धीरे-धीरे बेड़ा भी लुप्त हो जाता। चाँद निकल आता गिरजा-घर के शिखर के ऊपर; झुटपुटे प्रकाश में शहर सपने की भाँति हो जाता—मानों कोई अलौकिक मायापुरी हो। मन में सवाल उठता, सचमुच ही क्या जीवन इतना अविचलित कठिन है? और क्या वह इतना ही कृपण है जो न छुट्टी ही देगा और न रस ही। अचानक मन बिगड़ उठता, शरारत करने की इच्छा हो आती, जी में आता चिल्लाकर कह दे, 'मैं कुछ नहीं मानती!'

ऊर्मिमाला

नीरद ने रिसर्च का जो काम लिया था वह समाप्त हो गया। उसने लेख को यूरोप के किसी वैज्ञानिक समाज के पास भेज दिया। उस समाज ने उसकी प्रशंसा की और साथ ही साथ नीरद के लिये एक स्कालरशिप भी जुट गई,—उसने निश्चय किया कि वहीं के विश्व-विद्यालय में डिग्री लेने के लिये समुद्र का रास्ता लेगा। विदा लेते समय कोई करुण वार्तालाप नहीं हुआ। चलते समय बार-बार सिर्फ़ यही कहता रहा, "मैं जाता हूँ पर मुझे डर है कि तुम अपने कर्तव्य-पालन में शिथिलता का परिचय दोगी।" ऊर्मि ने कहा, "आप कोई फ़िक्र न करें।" नीरद ने जवाब दिया, "कैसे चलना होगा, पढ़ाई-लिखाई किस प्रकार होगी इन बातों के लिये एक विस्तृत नोट दिए जा रहा हूँ।" "ऊर्मि ने कहा, "मैं ठीक इसीके अनुसार ही चलूँगी।"

"लेकिन तुम्हारी उस आलमारी की किताबों को मैं अपने घर में बंद कर देना चाहता हूँ।"

"ले जाइए" कहकर ऊर्मि ने कुंजी उसके हाथ में दे दी। सितार की ओर एक बार नीरद की नज़र पड़ी किन्तु फिर दुविधा में पड़कर रुक गया।

आख़िरकार नितान्त कर्तव्य के अनुरोध से ही नीरद को कहना पड़ा, "मुझे केवल एक डर है। शशांकबाबू के घर की ओर तुम्हारा आना-जाना अधिक होता रहा तो इसमें कोई संदेह नहीं कि तुम्हारी निष्ठा कमज़ोर हो जायगी। यह मत समझना कि शशांकबाबू की मैं निंदा कर रहा हूँ। वे बहुत ही अच्छे आदमी हैं। काम-धाम में उस प्रकार का उत्साह और वैसी बुद्धि मैंने बहुत कम बंगालियों में देखी है। उनका एकमात्र दोष यही है कि वे किसी भी आदर्श को नहीं मानते। सच कहता हूँ, उनके लिये कई बार मुझे भय होता है।"

इसपर से शशांक के अनेक दोषों की बात उठी और साथ ही नीरद इस अत्यन्त शोचनीय दुर्भावना को भी दबाकर नहीं रख सका कि उनमें बहुत से ऐसे दोष अभी ढके हुए हैं जो उम्र बढ़ने के साथ ही साथ एक-एक करके प्रबल आकार में प्रकट होंगे। लेकिन यह सब होने पर भी नीरद मुक्त-कंठ से ही स्वीकार करना चाहता है कि वे बहुत भले आदमी हैं। उसीके साथ यह भी

कहना चाहता है कि उनके संगदोष से और उनके घर की आबहवा से अपने-आपको बचाना ऊर्मि के लिये विशेष आवश्यक है। अगर ऊर्मि का मन उनकी समान-भूमि पर उतर आवे तो अधःपतन होगा।

ऊर्मि बोली, "आप इतने अधिक उद्विग्न क्यों हो रहे हैं।"

"क्यों हो रहा हूँ सुनोगी? बुरा तो नहीं मानोगी?"

"आप ही से सच बात सुनने की शक्ति पाई है। जानती हूँ, सहज नहीं है तो भी सहन कर सकती हूँ।"

"तो कहता हूँ, सुनो। तुम्हारे स्वभाव के साथ शशांकबाबू के स्वभाव का सादृश्य है। यह बात मैंने देखी है। उनका मन एकदम हल्का है। वही तुमको अच्छा लगता है। बताओ सच कहता हूँ कि नहीं?"

ऊर्मि सोचने लगी, यह आदमी सर्वज्ञ तो नहीं है। निस्संदेह वह अपने बहनोई को ख़ूब पसंद करती है, इसका प्रधान कारण यह है कि शशांक खिलखिलाकर हँस सकता है, ऊधमी है, मज़ाक करता है और ठीक जानता है कि ऊर्मि को कौन सा फूल पसंद है और किस रंग की साड़ी उसे भाती है।

ऊर्मि ने कहा, "हाँ, वे मुझे अच्छे लगते हैं यह बात ठीक है।"

नीरद ने कहा, "शर्मिला दीदी का प्रेम स्निग्ध गम्भीर है। उनकी सेवा मानों एक पुण्य-कर्म है। अपने कर्तव्यकर्म से वे छुट्टी नहीं लेतीं। उसीके प्रभाव में शशांकबाबू ने एकाग्र चित्त से काम करना सीखा है। किन्तु जिस दिन तुम भवानीपुर जाती हो उसी दिन उनका आवरण हट जाता है। तुम्हारे साथ नोक-झोंक शुरू हो जाती है, वे तुम्हारे केश के काँटे निकालकर जूड़ा खोल देते हैं, तुम्हारे हाथ में पढ़ने की किताब देखकर ऊँची आलमारी के सिरे पर रख देते हैं। टेनिस खेलने का शौक़ अचानक प्रबल हो उठता है, बहुत से काम पड़े हों तो भी।"

ऊर्मि को मन ही मन मानना पड़ा कि शशांक इस प्रकार शरारत करते हैं इसीलिये उसे अच्छे लगते हैं। उनके पास जाने पर उसका अपना लड़कपन तरङ्गित हो उठता है। वह भी उनके ऊपर कम अत्याचार नहीं करती। दीदी उन दोनोंकी शरारत देखकर अपनी शान्त, स्निग्ध हँसी हँसती रहती हैं। कभी-कभी मीठी फटकार भी बताती हैं लेकिन वह भी दिखावा ही होता है।

नीरद् ने उपसंहार में कहा, "जहाँ तुम्हारा अपना स्वभाव प्रश्रय न पावे वहीं तुम्हें रहना चाहिए। मैं अगर नज़दीक रहता तो कोई चिन्ता नहीं थी क्योंकि मेरा स्वभाव तुमसे एकदम उल्टा है। तुम्हारा मन रखने के लिये उसे एकदम मिट्टी में मिला देने का काम मुझसे कभी भी नहीं हो सकता।"

ऊर्मि ने सिर झुकाकर कहा, "आपकी बात सदा याद रखूँगी।"

नीरद् ने कहा, "मैं तुम्हारे लिये कुछ किताबें रख जाना चाहता हूँ। जिन अध्यायों पर मैंने निशान लगा दिए हैं उन्हें विशेष रूप से पढ़ना, आगे चलकर काम आएगा।"

ऊर्मि को इस सहायता की ज़रूरत थी, क्योंकि इधर उसके मन में बीच-बीच में आशंका होने लगी थी; सोचा करती, 'शायद पहले के उत्साह की झोंक में मैं ग़लती कर बैठी हूँ। शायद डाक्टरी मेरे अनुकूल नहीं पड़ेगी।'

नीरद् की निशान लगाईहुई किताबें उसके लिये कठोर बन्धन का काम करेंगी, उसे धारा के विरुद्ध खींच ले चलेंगी। नीरद् के चले जाने के बाद ऊर्मि अपने ऊपर और भी कठिन अत्याचार करने लगी। कालेज जाती,

और बाक़ी समय अपने को मानों ज़नानख़ाने में बन्द करके रखती। दिन भर के बाद घर लौटती। लौटने पर उसका थका हुआ मन जितना ही छुट्टी पाना चाहता, उतनी ही निठुरता के साथ उसे अध्ययन की ज़ंजीरों में बाँधकर रोक रखती। पढ़ाई अग्रसर नहीं होती, एक ही पन्ने पर मन बारंबार व्यर्थ ही चक्कर काटता रहता, तो भी वह हार नहीं मानना चाहती। नीरद मौजूद नहीं है इसीलिये उसकी दूरवर्ती इच्छाशक्ति उसपर अधिक प्रभाव डालने लगती है।

जब काम करते-करते पहले की बातें बार-बार मन में चक्कर काटने लगतीं तो वह अपनेको सबसे अधिक धिक्कार देती। युवकों में उसके अनेक भक्त थे। उन दिनों उसने किसीकी उपेक्षा भी की है और किसीके प्रति मन आकर्षित भी हुआ है। प्रेम परिणत नहीं हुआ लेकिन प्रेम की इच्छा उस समय मृदु-मन्द वासन्ती वायु के समान मन में घूमती रही है। इसीलिये वह अपने मन में गुनगुनाकर गान करती। अच्छी लगनेवाली कविताओं की नक़ल कर लेती। जब मन अत्यन्त उतावला हो जाता तब सितार बजाने लगती। आजकल किसी-किसी दिन सायंकाल जब आँखें किताब से उलझी

रहती हैं, वह अचानक चौंक उठती है और ऐसा मालूम होता है कि उसके मन में पुराने दिनों के किसी ऐसे मनुष्य का चित्र घूम रहा है जिसे उसने कभी विशेष प्रश्रय नहीं दिया। यहाँ तक कि उस आदमी का अविश्राम आग्रह उन दिनों उसे नाराज़ किया करता। आज शायद उसका वही आग्रह ऊर्मि की भीतरी अतृप्ति की वेदना को उसी प्रकार स्पर्श कर रहा है, जिस प्रकार तितली के क्षणिक हल्के पङ्ख फूल को वसन्त का स्पर्श दे जाते हैं।

इन विचारों को वह जितने ही वेग से मन से दूर करना चाहती, उतनी ही तेज़ी से उस वेग का प्रतिघात भी उसके मन में उन्हीं विचारों को ठेल देता। डेस्क पर नीरद का एक फ़ोटोग्राफ़ रखा है। उसकी ओर एकटक देखती रहती। उस मुख में बुद्धि की दीप्ति तो है परन्तु आग्रह का कोई चिह्न नहीं। वह उसे पुकारता ही नहीं, तो फिर उसके प्राण जवाब दें तो किसे दें? मन ही मन सिर्फ़ यही जप किया करती, 'कैसी प्रतिभा है, कैसी तपस्या है, कैसा निर्मल चरित्र है, कैसा अचिंतनीय मेरा सौभाग्य है!'

एक बात में नीरद की जीत हुई है, उसे भी बता देना आवश्यक है। नीरद के साथ ऊर्मि के विवाह की बात

जब तै हुई तो शशांक और उसीके समान कुछ और शक्की आदमियों ने व्यंग्य किया। कहा, 'राजाराम बाबू सीधे आदमी हैं, समझ रक्खा है कि नीरद आईडियलिस्ट है। उसका आइडियलि.ज़्म चुपचाप ऊर्मि के रुपयों की थैली के भीतर जो अंडा से रहा है सो उसे क्या लम्बे सुन्दर वाक्यों से ढका जा सकता है? उसने निश्चय ही अपने आपको उत्सर्ग किया है लेकिन जिस देवता के निकट उत्सर्ग किया है उसका मन्दिर इम्पीरियल बैंक में है। हम लोग सीधे श्वसुर को बता देते हैं कि रुपये की ज़रूरत है और वह रुपया पानी में नहीं पड़ेगा, बल्कि उन्हींकी लड़की की सेवा में लगेगा। लेकिन ये महान् पुरुष हैं, कहते हैं महान् उद्देश्य के लिये विवाह करेंगे। उसके बाद नित्य ही उस उद्देश्य का तरज़ुमा श्वसुर की चेक-बुक के रूप में करते रहेंगे।'

नीरद जानता था कि ऐसी बातों का उठना अपरिहार्य है। ऊर्मि से बोला, 'मेरे विवाह करने की एक शर्त है; तुम्हारे रुपयों में से मैं एक पैसा भी नहीं लूँगा, मेरी अपनी कमाई ही मेरा एकमात्र अवलम्बन होगी।' श्वसुर ने जब उसे यूरोप भेजने का प्रस्ताव किया तो वह किसी

प्रकार राज़ी नही हुआ। इसके लिये उसे बहुत दिनों तक इन्तेज़ार भी करना पड़ा। उसने राजाराम बाबू को बताया, 'अस्पताल की स्थापना के लिये आप जितना रुपया देना चाहते हैं अपनी लड़की के नाम जमा कर दीजिए। मैं जब अस्पताल का भार लूँगा तो कोई वृत्ति नहीं लूँगा। मैं डाक्टर हूँ, मेरी जीविका के लिये कोई चिन्ता नहीं।'

इस एकांत निःस्पृहता को देखकर राजाराम की भक्ति उसपर और भी दृढ़ हो गई और ऊर्मि ने ख़ूब गर्व अनुभव किया। इस गर्व का उचित कारण उपस्थित होने की वजह से शर्मिला का मन नीरद पर से बिल्कुल विरूप हो गया, बोली "उफ़, देखूँ यह दिमाग़ कितने दिनों तक रहता है!" इसके बाद से नीरद अपनी आदत के अनुसार जब अत्यन्त गम्भीर भाव से कुछ कहने लगता तो शर्मिला बातचीत के बीच में से अचानक उठ पड़ती और गर्दन टेढ़ी करके बाहर निकल जाती। कुछ दूर तक उसके पैरों की आवाज़ सुनाई पड़ती। ऊर्मि की ख़ातिर कुछ बोलती तो नहीं किन्तु उसके न बोलने की व्यंजना काफ़ी तेज से तपी होती।

शुरू-शुरू में नीरद हर मेल की चिट्ठी में चार-पाँच पन्ने का

विस्तारित उपदेश देता रहा। कुछ दिन बाद एक टेलीग्राम देकर सबको अचरज में डाल दिया: लंबी संख्या के रुपयों की ज़रूरत है, पढ़ाई के लिये। जो गर्व इतने दिनों तक ऊर्मि का प्रधान सम्बल था उसमें काफ़ी चोट लगी किन्तु मन में थोड़ी सांत्वना भी मिली। ज्यों-ज्यों दिन बीतने लगे और नीरद की अनुपस्थिति लम्बी होती गई, त्यों-त्यों ऊर्मि का पहले का स्वभाव कर्तव्य के घेरे के भीतर सूराख़ खोजने लगा। अपनेको नाना बहानों से भुलाया भी करती और पश्चाताप भी करती। ऐसी आत्मग्लानि के समय नीरद को रुपये-पैसे से सहायता करने में उसका सन्तप्त मन थोड़ी सांत्वना पा जाता।

ऊर्मि टेलिग्राम को मैनेजर के हाथ में देकर संकोच से बोली, 'काकाजी, रुपये—'

मैनेजर बाबू ने कहा, 'कुछ समझ में नहीं आ रहा। हम तो यही जानते थे कि रुपया उधर अस्पृश्य हा समझा जाता है।' मैनेजर नीरद को पसन्द नहीं करते थे।

ऊर्मि बोली, 'लेकिन विदेश में—' बात आधे में रुक गई।

काकाजी ने कहा, 'इस देश का स्वभाव विदेश को

मिट्टी में बदल जा सकता है यह मुझे मालूम है—लेकिन हम लोग उसके साथ ताल मिलाएँगे कैसे !'

ऊर्मि बोली, 'रुपया न मिलने से शायद तकलीफ़ में पड़ जाएँ'—

'बहुत अच्छा बेटी, भेज रहा हूँ, फ़िक्र मत करो। लेकिन इतना कह रखता हूँ कि यह शुरुआत है, ख़ात्मा नहीं'।

यह जो ख़ात्मा नहीं सो इसका प्रमाण थोड़े दिनों बाद ही और भी बड़ी अदद के रुपये की माँग से मिल गया। इस बार सेहत का तक़ाज़ा है। मैनेजर ने मुँह गम्भीर करके कहा, 'शशांकबाबू के साथ सलाह करनी चाहिए।'

ऊर्मि व्यस्त होकर बोल उठी, 'और चाहे जो करो, दीदी के घर यह ख़बर न जाने पावे।'

'अकेले यह ज़िम्मेवारी लेना मुझे अच्छा नहीं लगता।'

'एक दिन तो रुपया उनके हाथ में जाएगा ही।'

'हाँ, लेकिन उसके आगे देखना होगा कहीं पानी में न चला जाय।'

'किन्तु उनके स्वास्थ्य की बात तो सोचनी ही होगी।'

'अस्वास्थ्य नाना जाति का होता है, यह ठीक किस श्रेणी का है, साफ़ समझ नहीं पा रहा हूँ। यहाँ लौट

आने पर शायद हवा बदलने से स्वस्थ हो जायं। लौटती पैसेज की व्यवस्था करके बुला भेजा जाय।'

लौटने के प्रस्ताव से ऊर्मि बहुत अधिक विचलित हो उठी और सोचा, इसका कारण यही है कि नीरद का उच्च उद्देश्य कहीं बीच ही में बाधा न पावे।

काका ने कहा, 'इस बार तो रुपये भेजे देता हूँ लेकिन मालूम होता है, इससे डाक्टर साहेब का स्वास्थ्य और भी बिगड़ जाएगा।'

राधागोविन्द ऊर्मि का थोड़ी दूर का सम्बन्धी है। काका की बात का इशारा उसे लगा। मन में सन्देह हुआ। सोचने लगा, 'दीदी को शायद बताना ही पड़ेगा'। इधर अपनेको ही धक्का देकर बार बार प्रश्न करती 'तुम्हें यथोचित दुःख क्यों नहीं हो रहा ?'

इसी समय शर्मिला के रोग ने चिन्ता में डाल दिया। भाई की बीमारी की बात याद करने से भय मालूम होता। अनेक डाक्टर अनेक ओर से व्याधि की आवास-गुहा खोज निकालने में जुट पड़े। शर्मिला ने क्लान्त हँसी हँसकर कहा, 'सी. आई. डी. वालों के हाथ से

अपराधी तो निकल जाएगा, चोट खाकर मरेगा निरपराध।'

शशांक ने चिन्तित होकर कहा, 'देह की तलाशी यथाशास्त्र चलती रहे किन्तु चोट किसी प्रकार नहीं लगने दी जाएगी।'

इसी समय शशांक के हाथ में दो बड़े-बड़े काम आए, एक गंगा के किनारे जूट मिल में और एक टालीगञ्ज की ओर मीरपुर के ज़मींदारों के नये उद्यानगृह में। जूट मिल की कुली-बस्ती का काम ख़त्म करने की मीयाद तीन महीने की थी। नाना स्थानों में कुछ ट्यूबवेल बैठाने का काम था। शशांक को बिल्कुल फ़ुरसत नहीं थी। शर्मिला की बीमारी से प्रायः ही उसे रुक जाना पड़ता, हालाँ कि उसकी उत्कंठा काम के लिये बराबर बनी रहती।

इतने दिन विवाह हुए हो गए, लेकिन शर्मिला को ऐसी कोई बीमारी नहीं हुई जिसे लेकर शशांक को विशेष चिन्तित होना पड़े। इसीलिये इस बार की इस बीमारी के उद्वेग से उसका मन बच्चों की तरह छटपटा उठा है। काम-काज छोड़कर, घूम-फिरकर बिस्तर के पास निरुपाय भाव से आकर बैठ जाता। सिर पर हाथ

फेरता और पूछता, 'कैसा लग रहा है ?' शर्मिला उसी समय जवाब देती, "तुम बेकार चिंता मत करो ; मैं अच्छी ही हूँ ।" यह बात विश्वास करने योग्य नहीं होती, लेकिन फिर भी शशांक विश्वास करके शीघ्र ही छुट्टी पा जाता क्योंकि विश्वास करने की उसकी इच्छा प्रबल थी।

शशांक ने कहा, "ढेंकानल के राजा का एक बहुत बड़ा काम हाथ आया है। प्लैन के बारे में दीवान से बात करनी होगी। जितनी जल्दी हो सकेगा लौट आऊँगा, डाक्टर के आने से पहले।"

शर्मिला ने अनुयोग के साथ कहा, "मेरे सिर की क़सम, जल्दी करके काम ख़राब न कर देना। मैं जानती हूँ, तुम्हें उनके देश तक जाने की ज़रूरत है। ज़रूर जाना, नहीं जाओगे तो मैं अच्छी नहीं रहूँगी। मेरी देखरेख करनेवाले बहुत हैं।"

शशांक के मन में विराट् ऐश्वर्य खड़ा करने का संकल्प दिनरात जगा रहता। उसका आकर्षण ऐश्वर्य के प्रति नहीं बल्कि उसके बड़प्पन को ओर था। कुछ बड़ी चीज़ गढ़ सकना ही पुरुष की ज़िम्मेवारी है। रुपये-पैसे को तभी तक तुच्छ समझकर अवज्ञा की जा सकती है जब तक उससे केवल दिन कटते हैं। जब उसकी

चोटी ऊँची कर दी जाती है तो सर्वसाधारण उसके प्रति श्रद्धा प्रकट करने लगते हैं। इसलिये नहीं कि उससे उनका उपकार होता है बल्कि उसके बड़प्पन को देखने से ही चित्त में स्फूर्ति का सञ्चार होता है। शर्मिला के सिरहाने बैठकर शशांक के मन में जब उद्वेग चला करता, तो उस समय वह यह सोचे बिना नहीं रह पाता कि उसके कार्य की सृष्टि में किस जगह अनिष्ट की आशंका है। शर्मिला जानती है कि शशांक की यह भावना कृपण की भावना नहीं, बल्कि अपनी अवस्था के निचले तल से ऊपर की ओर जय-स्तम्भ खड़ा कर देने के लिये पुरुषार्थ की भावना है। शशांक के इस गौरव से शर्मिला गौरवान्वित थी। इसीलिये पति उसके रोग की तीमारदारी में उलझकर कामकाज में ढिलाई करे, यह बात सुखकर होने पर भी उसे अच्छी नहीं लगती। इसीलिये उसे बार-बार वह कामकाज की ओर लौटा देती।

इधर अपने कर्तव्य के बारे में शर्मिला की उत्कंठा का कोई अन्त नहीं। आज वह खाट पकड़े है और उधर नौकर-चाकर न जाने क्या कर रहे हैं। उसके मन में बिल्कुल सन्देह नहीं कि वे लोग रसोई में ख़राब

घी दे रहे ह, स्नान-घर में यथासमय गर्म पानी देना भूल जाते हैं, बिस्तर को चादर नहीं बदलते, मोरियों में मेहतर की झाड़ू नियमित रूप से नहीं पड़ती। उधर धोबी के कपड़े मिलाकर न सम्हालने से कैसी गड़बड़ी हो जाती है, यह तो जानी हुई बात है। वह रह नहीं पाती, चुपके से बिछौने से उठती और पूछताछ करने जाती, पीड़ा बढ़ उठती, बुखार चढ़ जाता, डाक्टर समझ ही न पाता कि क्या हुआ।

अन्त में ऊर्मिमाला को उसकी दीदी ने बुला भेजा। बोली, "कुछ दिन अपना कालेज रहने दे, मेरी गिरस्ती को रक्षा कर, बहन। नहीं तो निश्चिन्त होकर मर भी नहीं पाऊँगी।"

यह इतिहास जिन लोगों ने पढ़ा है वे लोग यहाँ आकर ज़रा व्यंग्य की हँसी हँसकर कहेंगे, 'समझ लिया। समझने के लिये बहुत ज़्यादा बुद्धि की ज़रूरत नहीं। जो घटनेवाला होता है वह घट ही जाता है, और वही काफ़ी भी होता है। ऐसा भी समझने का कोई कारण नहीं कि भाग्य का खेल ताश के पत्तों को छिपाकर चला करेगा—शर्मिला की ही आँखों में धूल झोंककर।'

दीदी की सेवा करने चली हूँ, यह सोचकर ऊर्मि के

मन में .खूब उत्साह हुआ। इस कर्तव्य की खातिर बाक़ी सब काम बन्द रखना पड़ेगा। कोई उपाय नहीं है। इसके सिवा यह जो शुश्रूषा का काम है सो तो उसके भावी डाक्टरी के काम से सम्बद्ध ही है, यह दलील भी उसके मन में उठी। .खूब आडम्बर के साथ उसने एक चमड़े से बँधा हुआ नोटबुक ख़रीदा। उसमें रोग के दैनिक ज्वारभाटे का हिसाब रखने के लिये आड़ी-तिरछी लकीर खींची गईं। बाद में चलकर डाक्टर उसे अनभिज्ञ समझकर उसकी अवज्ञा न करे, इसलिये उसने निश्चय किया कि जहाँ कहीं भी दीदी के रोग के सम्बन्ध में जो कुछ भी लिखा मिल जायगा, उसे पढ़ लेगी। एम. एस-सी की परीक्षा में उसका एक विषय शरीरतत्त्व था। इसलिये रोग-तत्त्व के पारिभाषिक शब्दों को समझने में उसे कष्ट नहीं होगा। अर्थात् दीदी की सेवा के उपलक्ष्य में उसका कर्तव्य-सूत्र टूट नहीं जायगा बल्कि और भी .ज्यादा एकाग्र मन से कठिनतर प्रयोग के द्वारा वह उसी कर्तव्य का अनुसरण करेगी—यह बात मन में स्थिर करके उसने पढ़ने की किताबें और बही-खाता बैग में भरकर भवानीपुर के मकान में प्रवेश किया। दीदी की बीमारी को लेकर रोगतत्त्व-

सम्बन्धी पुस्तकों के छानने का सुयोग नहीं मिला, क्योंकि विशेषज्ञ लोग भी रोग की संज्ञा निणय नहीं कर सके थे।

ऊर्मि ने सोचा, उसे शासनकर्त्ता का काम मिला है। इसीलिये उसने मुख गम्भीर करके दीदी से कहा, "डाक्टर की बात जिसमें ठीक-ठीक पालन की जाए उसे देखने का भार मेरे ऊपर है। देखो, मेरी बात मानकर चलना होगा, यह मैं कहे देती हूँ।"

दीदी उसकी जवाबदेही के आडम्बर को देखकर हँसी। बोली, 'यही तो देख रही हूँ, अचानक गम्भीर होना किस गुरु से सीखा तूने! नई दीक्षा है, इसीलिये इतना उत्साह है। मेरी बात मानकर तू चलेगी, इसीलिये तो मैंने तुझे बुलाया है। तेरा अस्पताल तो अभी बना नहीं लेकि मेरी घ स्ती बन चुकी है। तब तक यही भार सँभाल। तेरी दीदी को ज़रा छुट्टी मिले।"

रोग-शय्या के पास से ऊर्मि को दीदी ने ज़बर्दस्ती हटा दिया। आज दीदी के गृह-राज्य में प्रतिनिधि का पद उसका है। वहाँ अराजकता फैली हुई है। शीघ्र ही इसका प्रतिकार होना चाहिए। इस गृहस्थी के सर्व्वोच्च शिखर पर जो एकमात्र पुरुष विराजमान हैं

उनकी सेवा में कोई मामूली त्रुटि भी न हो, इस महान् उद्देश्य के लिये सम्पूर्ण त्याग-स्वीकार ही इस घर के छोटे-बड़े समस्त अधिवासियों की साधना का एकमात्र विषय है। शर्मिला के मन से यह बात किसी प्रकार दूर होना नहीं चाहती कि वह बेचारे अत्यन्त निरुपाय हैं और देह-यात्रा के निर्वाह में शोचनीय भाव से अकर्मण्य हैं। जब देखती है कि चुरुट की आग से भले आदमी का आस्तीन ज़रा जल गया है और उस तरफ़ ध्यान हो नहीं तो उसे हँसी भी आती है और मन स्नेहसिक्त भी हो उठता है। प्रातःकाल मुँह धोकर सोने के कमरे में रखे हुए कल की टोंटी को खुला ही छोड़-कर इंजीनियर काम की हड़बड़ी में बाहर दौड़ा चला जाता है। लौटकर आता है तो देखता है, फ़र्श पर पानी जमा है और कार्पेट नष्ट हो गया है। शुरू में ही शर्मिला ने इस स्थान पर कल लगाने के विषय में आपत्ति की थी। जानती थी कि इस पुरुष के हाथ से बिस्तर के पास ही उस कोने में प्रतिदिन जल और स्थल मिलकर एक पङ्किल काण्ड खड़ा कर देंगे।

किन्तु इतने बड़े इंजीनियर को रोके कौन! वैज्ञानिक सुविधा की दुहाई देकर हर तरह की असुविधाओं को

जटिल कर देने में ही उसका उत्साह था। ख़ाहमख़ाह न जाने क्या एक बार दिमाग़ में आया कि बिल्कुल अपने ओरिजिनल प्लान के अनुसार एक स्टोव तैयार कर बैठा। उसके इधर दरवाज़ा, उधर दरवाज़ा, इधर एक चोंगा, उधर और एक चोंगा, इधर आँच की फ़िज़ूलख़र्ची बचाकर तेज़ करने का और उधर एक ओर ढालू रास्ते से राख के एकदम गिर जाने का विधान—उसके बाद सेंकने का, तलने का, उबालने का, पानी गर्म करने का—नाना प्रकार के छेद-छाद, गुहा-गह्वर, कल-कौशल! इस कल को उत्साह की भंगी और भाषा में ही मान लेना पड़ा,—व्यवहार के लिये नहीं, शांति और सद्भाव की रक्षा के लिये। यह है वयस्क शिशुओं का खेल! बाधा देने से अनर्थ होता है, और फिर भी दो दिन में भूल जाते हैं। हमेशा की बँधी व्यवस्था में मन रमता नहीं, कुछ विचित्र सृष्टि करता है, और स्त्रियों की ज़िम्मेवारी यह है कि मुँह से उनकी बात में हामी भर दें और काम अपने ढँग से करती रहें। इस प्रकार के स्वामी-पालन की ज़िम्मेवारी शर्मिला इतने दिनों से ढोती आ रही है।

इतने दिन तो कट गए। अपने को हटाकर शशांक

की दुनिया की कल्पना शर्मिला कर ही नहीं सकती। आज डर लग रहा है कि मृत्यु का दूत आकर जगत् और जगद्धात्री के बीच विच्छेद न पैदा कर दे। यहाँ तक कि उसे आशंका हुई कि मृत्यु के बाद भी शशांक का दैहिक अयत्न शर्मिला के विदेही आत्मा को शांतिहीन बना रखेगा। भाग्य से ऊर्मि थी। वह उसकी तरह शांत नहीं है, तो भी उसकी ओर से कामकाज चला लेती है। यह काम भी तो लड़कियों के हाथ का ही काम है। उस स्निग्ध हाथ का स्पर्श पाए बिना पुरुषों के प्रतिदिन के जीवन के प्रयोजन में रस ही नहीं रह जाता। सब कुछ जाने-कैसा श्रीहीन हो जाता है। इसीलिये ऊर्मि जब अपने सुन्दर हाथों में छुरी लेकर सेब के छिलके छुड़ाती और काट-काटकर उन्हें सजाती है, नारंगी के कोओं को सँभालकर सफ़ेद पत्थर की थाली में एक ओर रखती है, बेदाने के दानों को जतन से सजा देती है तो शर्मिला अपनी बहन के भीतर मानों अपने-आपको ही पाती है। बिस्तर पर सोए-सोए उससे हमेशा काम की फ़रमाइश किया करती है—

'उनके सिगरेट केस को भर देना ऊर्मि';

'नहीं देख रहो है रूमाल मैला हो गया है ? बदलने का ख़्याल ही नहीं' ;

'वह देख, जूता सीमेंट और बालू में जमकर ठोस-सा बन गया है। बेहरा को साफ़ कर देने का हुक्म देने का भी होश नहीं है उन्हें' ;

'तकिए का गिलाफ़ बदल देना, बहन' ;

'फेंक दे उन फटे काग़ज़ों को टोकरी में' ;

'एक बार आफ़िसवाला कमरा तो देख आ ऊर्मि, मैं निश्चित कह सकती हूँ कि कैशबक्स को चाभी डेस्क पर फेंककर वे बाहर चले गए हैं' ;

'फूलगोभी के पौधे उठाकर रोपने का समय हो आया, याद रखना' ;

'माली से कहना, गुलाब की डालें छाँट दे' ;

'वह देखो, कोट की पीठ में चूना लगा है—इतनी जल्दो क्या है, थोड़ा रुको न—ऊर्मि, ले तो बहन, ज़रा ब्रश कर दे।'

ऊर्मि किताब-पढ़ी लड़की है, कामकाजी लड़की नहीं, तो भी उसे बड़ा आनंद आता। जिस कड़े नियम में वह थी, उससे बाहर आकर जो भी कामकाज था, वह सभी अनियम के समान ही लगता था। इस गृहस्थी

की कर्मधारा के भीतर ही भीतर जो उद्वेग है, जो साधना है, वह तो उसके मन में नहीं है ; उस चिन्ता का सूत्र उसकी दीदी के भीतर है। इसीलिये ये काम उसके लिये खेल हैं। एक प्रकार की छुट्टी—उद्देश्य-विवर्जित उद्योग हैं। वह जहाँ इतने दिनों तक थी उससे यह दुनिया संपूर्ण स्वतंत्र है, यहाँ उसके सामने कोई लक्ष्य उँगली नहीं उठाए है और फिर भी दिन काम से भरेपूरे हैं। विचित्र काम है यह। ग़लती होती है, त्रुटि होती है लेकिन उसके लिये कोई कठिन जबाबदेही नहीं। दीदी यदि थोड़ा डाँटने की चेष्टा भी करती हैं तो शशांक हँसकर उड़ा देता है, मानों ऊर्मि की ग़लती में ही एक प्रकार का रस है। वस्तुतः आजकल इन लोगों की घर-गिरस्ती में से ज़िम्मेवारी की गंभीरता चली गई है। भूलचूक से कुछ आता-जाता नहीं—ऐसी ही एक ढीली अवस्था पैदा हो गई है। शशांक के लिये यही बड़े आराम और कौतुक का विषय है। ऐसा जान पड़ता है जैसे पिकनिक चल रही हो। और ऊर्मि जो किसी बात से चिंतित नहीं होती, दुःखित नहीं होती, लज्जित नहीं होती, सब कुछ से उच्छ्वसित हो जाती है, इससे शशांक के अपने मन के गुरुभार कर्म का पीड़न

हल्का हो जाता है। काम ख़तम होते ही—यहाँ तक कि न होने पर भी—उसका मन घर आने को उत्सुक हो उठता है।

यह तो मानना ही पड़ेगा कि ऊर्मि कामकाज में चतुर नहीं। तो भी ध्यान से देखने पर एक बात स्पष्ट होती है कि चाहे काम के द्वारा न हो, अपने आपको देकर ही उसने इस घर के एक बहुत दिनों से चले आनेवाले अभाव को पूरा किया है। निर्दिष्ट भाषा में बताना कठिन है कि वह अभाव क्या था। इसीलिये शशांक जब घर लौटता तो वहाँ की हवा में लहराती हुई छुट्टी की हिलोर का अनुभव करता। वह छुट्टी केवल घर की सेवा में, केवल अवकाश-मात्र में नहीं होती, बल्कि उसका एक रसमय स्वरूप है। असल में ऊर्मि के अपने ही छुट्टी के आनंद ने यहाँ के समूचे सूनेपन को पूर्ण कर दिया है, दिन और रात को चंचल कर रखा है। वह निरन्तर चांचल्य कर्मक्लान्त शशांक के रक्त को दोलायित कर देता है। दूसरी ओर शशांक ऊर्मि को लेकर आनंदित है, इस बात की प्रत्यक्ष उपलब्धि ही ऊर्मि को आनन्द देती है। इतने दिनों तक ऊर्मि ने यह सुख पाया ही नहीं। वह केवल अपने अस्तित्त्वमात्र से ही

किसी को प्रसन्न कर सकती है—यह बात बहुत दिनों से उसके निकट दबी रह गई थी : इसीसे उसकी वास्तविक गौरव-हानि हुई थी।

शशांक का आहार-विहार यथा-अभ्यास चल रहा है कि नहीं, ठीक समय पर ठीक चीज़ का आयोजन हुआ या नहीं, यह बात इस घर के प्रभु के मन में गौण हो गई है ; प्रभु यों ही अकारण ही प्रसन्न हैं। शर्मिला से शशांक कहता, "तुम छोटी-मोटी बातों को लेकर इतना परेशान क्यों होती हो। अभ्यास में ज़रा फेर-बदल होने से कुछ असुविधा तो होती नहीं, बल्कि वह अच्छा ही लगता है।"

इन दिनों शशांक का मन ज्वार-भाटे के बीच में पड़ी हुई नदी की भाँति हो गया है। कामकाज का वेग ठिठक-सा गया है। किसी ज़रा-सी देर के लिये या बाधा से मुश्किल हो जायगी, नुक़सान होगा, ऐसी उद्वेगजनक बातें सदा नहीं सुनाई देतीं। ऐसा कुछ यदि प्रकट भी होता है तो ऊर्मि उसकी गम्भीरता को तोड़ देती है, हँस देता है—मुँह का गंभीर भाव देखकर कहती है, 'आज तुम्हारा हौआ आया था क्या !—वही हरी पगड़ी वाला,

जाने-किस देश का दलाल! डरा-धमका गया है शायद ?"

शशांक विस्मित होकर कहता, "तुम उसे कैसे जान गईं ?"

"मैं उसे ख़ूब पहचानती हूँ। उस दिन जब तुम बाहर चले गए थे तो वह आकर अकेला बरामदे में बैठा रहा। मैंने ही उसे बहुत तरह की बातों में भुला रखा था। उसका घर बीकानेर में है। उसकी स्त्री मर गई है, मच्छरदानी में आग लगने से। नई शादी की फ़िराक़ में है।"

"तो अब से जब मैं निकल जाया करूँगा तब वह रोज़ ही आया करेगा। जब तक स्त्री नहीं मिल जाती तब तक उसके स्वप्न का रंग तो जमा रहेगा।"

"मुझे बता जाना कि उससे कौन-सा काम पटा लेना होगा। उसके रङ्ग ढङ्ग से मालूम होता है, मैं पटा सकूँगी।"

आजकल शशांक की आमदनी के खाते में निन्यानबे के ऊपर की जो मोटी-मोटी संख्याएँ चलन्त अवस्था में हैं वे यदि बीच-बीच में सब्र करें तो उसमें व्यस्त हो उठने योग्य चांचल्य नहीं दिखाई देता। सायंकाल रेडियो

के पास कान लगाए रहने का उत्साह अब तक शशांक मज़ुमदार में अनभिव्यक्त ही था। आजकल जब ऊर्मि उसे इसीके लिये खींचकर ले जाती है तब यह विषय न तो तुच्छ ही मालूम होता है और न समय ही व्यर्थ जान पड़ता है। हवाई जहाज़ का उड़ना देखने के लिये एक दिन सुबह-सुबह उसे दमदम तक जाना पड़ा था, वैज्ञानिक कौतूहल उसका प्रधान आकर्षण नहीं था। न्यू मार्केट में शापिंग करने का यही उसका श्रीगणेश है। इसके पहले शर्मिला बीच बीच में मछली-मांस फल-मूल साग-सब्ज़ी ख़रीदने वहाँ जाती थी। वह जानती थी कि यह कार्य विशेष भाव से उसीके विभाग का है। यहाँ शशांक उसकी सहायता करेगा, यह बात कभी उसके मन में भी नहीं आई, उसने चाही भी नहीं। लेकिन ऊर्मि तो ख़रीदने नहीं जाती, वह सिर्फ़ चीज़ों को उलटपुलटकर देखती फिरती है, मोलभाव करती है और यदि शशांक ख़रीद देना चाहता है तो उसका मानीबैग छीनकर अपने बैग की हाजत में डाल लेती है।

शशांक के काम के लिये ऊर्मि के दिल में ज़रा भी दर्द नहीं था। कभी-कभी वह ज़्यादा बाधा देने के कारण

शशांक की डाँट भी खा गई थी, पर उसका फल ऐसा शोकावह हुआ कि उसकी शोचनीयता दूर करने में शशांक को दुगुना समय देना पड़ा। इधर तो ऊर्मि की आँखों में वाष्प-सञ्चार और उधर अपरिहार्य कार्य की ताक़ीद! आख़िर सङ्कट में पड़कर उसने घर के बाहर के चैम्बर में काम-काज ख़त्म कर देने की कोशिश की। लेकिन तीसरा पहर बीतते न बीतते वहाँ रहना दुःसह हो जाता। जिस दिन किसी कारण से विशेष देर हो जाती उस दिन ऊर्मि का अभिमान दुर्भेद्य मौन के अन्तराल में दुर्जय हो उठता। इस रुद्ध अश्रु की कुहेलिका में आच्छन्न मान शशांक को आनन्दित करता। भले आदमी की तरह कहता, 'ऊर्मि तुम बात नहीं करोगी, इस सत्याग्रह की रक्षा करना उचित है, किन्तु धर्म की दुहाई है, नहीं खेलने का प्रण तो तुमने किया नहीं।' इसके बाद शशांक हाथ में टेनिस बैट लेकर चला आता। खेलते समय जब जीत के नज़दीक आता तो जान-बूझकर हार जाता। जो समय नष्ट होता उसके लिये फिर दूसरे दिन उठकर पश्चाताप किया करता। किसी छुट्टी के दिन सायंकाल शशांक जब दाहिने हाथ में लाल-नीली पेंसिल लेकर बाएँ हाथ की अंगुलियों को बिना कारण

सिर के बालों में फेरता हुआ, आफ़िस-डेस्क पर बैठकर किसी एक दुस्साध्य कार्य को करने के लिये मशग़ूल था, उसी समय ऊर्मि आकर बोली, "तुम्हारे उस दलाल के साथ तै किया है कि वह आज मुझे परेशनाथ का मन्दिर दिखाने को ले जाएगा। चलो मेरे साथ, मेरे भले जीजाजी!"

शशांक ने गिड़गिड़ाकर कहा, "ना भई, आज नहीं, इस समय उठना कठिन है।"

काम-काज के गुरुत्व से ऊर्मि को ज़रा भी डर नहीं लगता, बोली, "अबला रमणी को हरी पगड़ीवाले के साथ अरक्षित अवस्था में छोड़ देने में तुम्हें सङ्कोच नहीं होता, यही तुम्हारी शिवेलरी है?"

आख़िरकार उसकी खींचतान से शशांक को काम-काज छोड़कर मोटर हाँकनी पड़ी। इस प्रकार का उत्पात हो रहा है इसका आभास जब शर्मिला को मिलता तो वह बहुत नाराज़ होती क्योंकि उसके मत से पुरुष की साधना के क्षेत्र में स्त्रियों का अनधिकार प्रवेश किसी प्रकार क्षम्य नहीं। शर्मिला ऊर्मि को बराबर छोटी बच्ची-जैसी ही जानती आई है। आज भी उसके मन में यही धारणा है, सो कोई बात नहीं, लेकिन इसीलिए दफ़्तर तो लड़कपन

करने की जगह नहीं है! अतएव ऊर्मि को बुलाकर .खूब डाँट बताती। उस डाँट-फटकार से कुछ निश्चित फ़ायदा हो सकता था, लेकिन पत्नी के क्रुद्ध कंठस्वर को सुनकर शशांक स्वयं आकर दरवाज़े के बाहर खड़ा हो जाता और आँख मिचकाकर ऊर्मि को आश्वासन देता। ताश का पैक दिखाकर इशारा करता, जिसका भाव यह होता कि चली आओ, आफ़िस में बैठकर तुम्हें पोकर का खेल सिखाऊँगा। यह ताश खेलने का समय बिल्कुल नहीं था और न खेलने की बात मन में लाने लायक़ समय या अभिप्राय ही उसका था। लेकिन बड़ी बहन की कड़ी फटकार से ऊर्मि के मन में जो पीड़ा होती वह ऊर्मि की अपेक्षा उसे ही .ज्यादा लगती। वह ख़ुद ही ऊर्मि को अनुनय करके या थोड़ा सा डाँटकर भी कार्यक्षेत्र से हटा देता किन्तु शर्मिला इसी बात को लेकर ऊर्मि को डाँटेगी, यह बात उसके लिये दुःसह थी।

शर्मिला शशांक को बुलाकर कहती, "जिस बात पर भी वह मचलेगी उसी बात पर तुम ध्यान देने लगो तो चलेगा कैसे। इससे वक्त-बे-वक्त तुम्हारे काम का नुक़सान जो होता है।"

शशांक कहता, "आहा, बेचारी बच्ची है, यहाँ कोई उसका

संगी साथी नहीं ; ज़रा खेलने-खाने का मौक़ा न मिलने स जिएगी कैसे !"

यह तो हुआ नाना प्रकार का लड़कपन। उधर शशांक जब कोई मकान बनाने का प्लैन बनाता रहता तो ऊर्मि उसकी बग़ल में कुर्सी खींचकर बैठ जाती, कहती, समझा दो। सहज ही समझ भी लेती, गणित के नियम उसे बिल्कुल जटिल नहीं लगते। शशांक अत्यन्त प्रसन्न होता। उसे प्राब्लम देता, वह हल कर लाती। जूट कम्पनी के स्टीमलंच पर शशांक जब काम की देखरेख में निकलता तो वह हठ कर बैठती, 'मैं भी जाऊँगी।' सिर्फ़ जाती ही नहीं, मापजोख का हिसाब लेकर बहस भी करती। शशांक पुलकित हो उठता। भरपूर कवित्व की अपेक्षा इसका रस ज्यादा होता इसीलिये अब चेम्बर का काम जब वह घर ले आता तो मन में आशंका नहीं रहती। लकीर खींचनेवाले हिसाब के काम में उसे साथी मिल गया है। ऊर्मि को बग़ल में बैठाकर समझा-समझाकर काम करता। यद्यपि काम बहुत तेज़ी से अग्रसर नहीं होता तो भी समय की लंबाई सार्थक जान पड़ती।

यहीं शर्मिला को काफ़ी धक्का लगता। ऊर्मि के

लड़कपन को भी वह समझती है, गृहस्थी न चलाने की त्रुटि को भी वह स्नेहपूर्वक सह लेती है, लेकिन व्यवसाय के क्षेत्र में पति के साथ स्त्री-बुद्धि के दूरत्व को उसने स्वयं अनिवार्य मान लिया था। वहीं ऊर्मि का अबाध आना-जाना उसे ज़रा भी अच्छा नहीं लगता। यह एकदम हिमाकत है। अपनी-अपनी सीमाएँ मानकर चलने को ही गीता ने स्वधर्म कहा है। मन ही मन अत्यन्त अधीर होकर ही एक दिन उसने ऊर्मि से पूछा, "अच्छा ऊर्मि, वह सब आँकना, मापना, हिसाब लगाना तुझे क्या सचमुच अच्छा लगता है।"

'मुझे बहुत अच्छा लगता है दीदी।'

शर्मिला ने अविश्वास के स्वर में कहा, 'अच्छा लगता है! उन्हें ख़ुश करने के लिये दिखाया करता है कि अच्छा लगता है।'

यही सही; खिलाने-पिलाने में सेवा-यत्न के द्वारा शशांक को प्रसन्न करना तो शर्मिला को अच्छा ही लगता है। लेकिन इस तरह की ख़ुशी उसकी अपनी ख़ुशी के साथ मेल नहीं खाती।

शशांक को बार-बार बुलाकर कहती, "इसके साथ बेकार समय क्यों नष्ट करते हो। उससे तुम्हारे काम का

कितना हर्ज होता है! छोटी बच्ची है, उसे यह सब क्या समझ में आएगा।'

शशांक कहता, 'मुझसे कम नहीं समझती।' और समझता, इस प्रशंसा से दीदी आनन्दित हुई होंगी। नादान!

अपने कार्य के गौरव से शशांक ने जब अपनी स्त्री के प्रति मनोयोग को छोटा किया था तब शर्मिला ने उसे अगत्या नहीं मान लिया था, इससे उसने गर्व ही अनुभव किया था। इसीलिये इन दिनों अपने सेवा-परायण हृदय के दावे को उसने बहुत कुछ कम कर लिया। वह कहती, 'पुरुष राजा की जाति के हैं, उन्हें बराबर ही दुःसाध्य कर्म का अधिकार प्रशस्त करना होता है। नहीं तो वे स्त्रियों से भी नीचे हो जाते हैं क्योंकि स्त्रियाँ अपने स्वाभाविक माधुर्य और प्रेम के जन्मजात ऐश्वर्य से ही प्रतिदिन संसार में अपने आसन को सहज ही सार्थक किए रहती हैं। पुराने ज़माने के राजा लोग विना प्रयोजन के ही राज्य जीतने के लिये निकल पड़ते थे। उनका उद्देश्य राज्य-लाभ करना नहीं, बल्कि नये सिरे से पौरुष का गौरव प्रमाणित करना हुआ करता था। इस गौरव में स्त्रियों को बाधा नहीं देनी चाहिए।' शर्मिला

ने बाधा नहीं दी, स्वेच्छा से शशांक को लक्ष्य-साधना के सम्पूर्ण पथ को छोड़ दिया। एक समय उसने अपने सेवा-जाल में शशांक को फाँस रक्खा था। मन में कष्ट होने पर भी उसने उस जाल को शिथिल कर दिया। सेवा अब भी पर्याप्त करती है लेकिन अदृश्य नेपथ्य में रहकर।

लेकिन हाय, आज उसके पति का यह कैसा पराभव धीरे-धीरे प्रकट होता जा रहा है! रोगशय्या से वह सब तो नहीं देख सकती पर काफ़ी आभास पा जाती है। शशांक का मुँह देखते ही समझ सकती है कि वह हमेशा कुछ अजीब तरह के आवेश में रहता है। यह रत्ती भर की लड़की कितने थोड़े समय में इस कर्म-कठिन पुरुष को इतनी बड़ी साधना के आसन से विचलित किए दे रही है! पति की यह अश्रद्धेयता शर्मिला को रोग की पीड़ा से भी अधिक दुःख दे रही है।

शशांक के आहार-विहार वेश-वास आदि की व्यवस्था में अनेक प्रकार की त्रुटि हो रही है इसमें कोई संदेह नहीं। जो पथ्य उसे विशेष रुचिकर है, खाने के समय अचानक देखा जाता है कि वही अनुपस्थित है। इसकी .कैफ़ियत मिलती है किन्तु यहाँ किसी .कैफ़ियत को

आज तक माना नहीं गया। ऐसी असावधानता यहाँ अक्षम्य थी, कठोर शासन-योग्य मानी जाती थी; इसी विधिबद्ध संसार में आज इतना बड़ा युगांतर उपस्थित हुआ है कि गुरुतर त्रुटियाँ भी प्रहसन के समान हो गई हैं। दोष किसे दें! ऊर्मि यदि दीदी के निर्देश के अनुसार रसोईघर में बेत के मोढ़े पर बैठकर पाक-प्रणाली के परिचालन कार्य में नियुक्त होती और साथ ही साथ मिसरानी जी के पूर्वजीवन की बातों की आलोचना चलती रहती तो ऐसे ही समय शशांक अचानक आकर कहता, 'इस समय वह सब रहने दो'।

'क्यों क्या करना होगा?'

'इस वक्त मेरी छुट्टी है, चलो विक्टोरिया मेमोरियल की इमारत देख आएँ। उसका घमंड देखकर मुझे क्यों हँसी आती है सो तुम्हें समझा दूँगा।'

इतने बड़े प्रलोभन से कर्त्तव्य को छोड़कर जाने के लिये ऊर्मि का मन तत्क्षण चंचल हो उठता। शर्मिला जानती है की पाकशाला से उसकी बहन के अन्तर्धान हो जाने के बाद भी भोजन की उत्कृष्टता में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ेगा, तो भी स्निग्ध हृदय का थोड़ा सा यत्न शशांक के आराम को अलंकृत करता है। लेकिन आज आराम की बात उठाने

से क्या फ़ायदा, जब कि रोज़ हो साफ़ मालूम होता है कि आराम मामूली हो गया है, पति बिना आराम के भी प्रसन्न है।

इसी ओर से शर्मिला के मन में अशांति का प्रवेश हुआ। रोगशय्या पर करवट बदलती हुई वह बार-बार अपने-आप से कहती, 'मरने से पहले यह बात समझ ही गई! और सब कर सकी हूँ सिर्फ़ प्रसन्न नहीं कर सकी। सोचा था, ऊर्मिमाला के भीतर अपने-आपको ही देख सकूँगी लेकिन वह तो बिल्कुल एक दूसरी ही लड़की है।' खिड़की के बाहर की ओर ताकती और सोचती 'मेरी जगह वह नहीं ले सकी ; उसकी जगह मैं नही ले सकूँगी। मैं चली जाऊँगी तो सिर्फ़ नुक़सान ही होगा लेकिन वह चली जाएगी तो सब शून्य हो जाएगा।'

सोचते-सोचते अचानक याद आ गया कि जाड़ों के दिन आ रहे हैं, गर्म कपड़ों को धूप में देना चाहिए। ऊर्मि उस समय शशांक के साथ पिंग-पांग खेल रही थी, उसे बुला भेजा।

बोली, "ऊर्मि, यह चाभी ले, गर्म कपड़ों को छत पर धूप में फैला दे"।

ऊर्मि ने अभी आलमारी में चाभी लगाई ही थी कि शशांक ने आकर कहा, "वह सब बाद में होगा, बहुत समय पड़ा है, खेल ख़त्म कर आओ।"

"लेकिन दीदी"—

"अच्छा, दीदी से छुट्टी माँगे लाता हूँ।"

दीदी ने छुट्टी दे दी और उसके साथ ही बड़ी-सी एक दीर्घ निश्वास भी ली।

दासी को बुलाकर कहा, "ज़रा रख तो दे मेरे सिर पर ठंडे जल की पट्टी।'

यद्यपि बहुत दिनों के बाद एकाएक छूट पाकर ऊर्मि अपने-आपको भूल-सी गई थी तथापि किसी-किसी दिन उसे अपने जीवन की कठोर ज़िम्मेवारी याद आ जाती। वह तो स्वाधीन नहीं, वह अपने व्रत के साथ बँधी हुई है,। उसी व्रत के साथ मिलकर जिस बंधन ने उसे व्यक्ति-विशेष के साथ बाँध रखा है, उसका अनुशासन तो सिर पर मौजूद है ही। उसी आदमी ने तो उसके दैनिक जीवन की तफ़सील ठीक कर दी है। ऊर्मि किसी प्रकार यह अस्वीकार नहीं कर पाती कि उसके जीवन पर उस आदमी का अधिकार हमेशा के लिये ही

गया है। जब नीरद पास था तब स्वीकार करना आसान था, मन में ज़ोर रहा करता था। इस समय उसकी इच्छा तो एकदम विमुख हो गई है लेकिन कर्तव्य-बुद्धि पीछे पडी हुई है। कर्तव्य-बुद्धि के इस अत्याचार से मन और भी बिगड़ उठता है। अपने ही किए हुए अपराध को क्षमा करना कठिन हो गया इसीलिये अपराध प्रोत्साहन पाने लगा। पीड़ा पर अफ़ीम की प्रलेप देने के लिये वह शशांक के साथ खेल-कूद और आमोद-प्रमोद में अपने को भुला रखने की चेष्टा करती। कहती, इस समय जितने थोड़े-से दिनों के लिये छुट्टी मिली है उतने समय तक यह सब बातें पड़ी रहें। फिर अचानक किसी-किसी दिन ज़ोर से सिर हिलाकर ट्रंक में से बही-खाता निकालती और उनपर मग़ज़ मारने बैठ जाती। अब शशांक की बारी आती। वह किताबों को खींचकर फिर से बक्स में भर देता और उसी बक्स को दबाकर ऊपर बैठ जाता। ऊर्मि कहती, "जीजाजी, यह तुम्हारा बड़ा अन्याय है, मेरा समय मत बरबाद करो।"

शशांक कहता, "तुम्हारा समय बरबाद करने में मेरा भी समय बरबाद होता है। इसलिये जमा-ख़र्च बराबर हुआ।"

इसके बाद थोड़ी देर खींचतान करके अंत में ऊर्मि हार मान लेती। यह उसके लिये बहुत आपत्तिजनक है ऐसा भी नहीं लगता। इस प्रकार बाधा पाकर भी कर्तव्यबुद्धि की मार पाँच-छः दिन तक लगातार जारी रहती, बाद में उसका ज़ोर कम हो आता। ऊपर से कहती, "मुझे कमज़ोर न समझना जीजाजी, मेरे मन में प्रतिज्ञा मज़बूत ही बनी हुई है।"

"यानी?"

"यानी यहाँ से डिग्री लेकर यूरोप में डाक्टरी सीखने जाऊँगी।"

"फिर?"

"फिर अस्पताल स्थापित करके उसकी ज़िम्मेवारी सँभालूँगी।"

"और किसकी ज़िम्मेवारी सँभालोगी? वह जो नीरद मुखर्जी नाम का एक इनसफ़रेबुल—"

शशांक का मुँह बंद करके ऊर्मि कहती, "चुप रहो। यदि यह सब बातें कहोगे तो तुम्हारे साथ बिल्कुल तकरार हो जायगी।"

अपने को ऊर्मि ख़ूब कठिन करके कहती, मुझे सत्य बनना होगा, सत्य बनना होगा।—नीरद के साथ उसका

जो सम्बन्ध पिताजी स्वयं स्थिर कर गए हैं उसके प्रति सच्ची न हो सकने को वह सतीत्व-धर्म के विरुद्ध समझती।

लेकिन कठिनाई यह थी कि दूसरी ओर से उसको कोई बल नहीं मिलता! वह मानो एक ऐसी लता है जो धरती को तो कसके पकड़े हुई है किंतु आकाश के प्रकाश से वंचित है, उसकी पत्तियाँ पीली पड़ गई हैं। कभी-कभी वह असहिष्णु हो उठती, मन ही मन सोचती, यह आदमी ज़रा ढँग की एक चिट्ठी भी क्यों नहीं लिख सकता!

ऊर्मि ने बहुत दिनों तक कानवेन्ट में पढ़ा था। और कुछ हो या न हो अंग्रेज़ी वह अच्छी जानती थी। यह बात नीरद को मालूम थी। इसीलिये अंग्रेज़ी में लिखकर उसे अभिभूत करने का प्रण नीरद ने कर रखा था। मातृभाषा में चिट्ठी लिखने से आफ़त से जी छूटता, लेकिन बेचारे को मालूम नहीं कि उसे अंग्रेज़ी नहीं आती। बड़े-बड़े शब्दों का संग्रह करता, भारी-भरकम किताबी वाक्यों की योजना करता और इस प्रकार पत्र के वाक्यों को बोरों से लदी हुई बैलगाड़ी की तरह बना देता। ऊर्मि को हँसी आती लेकिन हँसने में भी उसे लाज लगती।

अपने ही को तिरस्कार करके कहती, बंगाली की अंग्रेज़ी में कोई त्रुटि हो तो उसे लेकर नुक़्ताचीनी करना स्नाबरी है।

देश में रहते हुए आमने-सामने बैठकर जब नीरद सदुपदेश दिया करता तो गौरववश उसकी भावभंगी गम्भीर हो उठती। जितना कानों से सुनाई देता उतने से अंदाज़ में उसका वज़न भारी होता, लेकिन लंबी चिट्ठी में अन्दाज़ की गुंजाइश नहीं होती। कमर कसे हुई बड़ी-बड़ी बातें हल्की हो जातीं, मोटी आवाज़ से ही वक्तव्य विषय की कमी प्रकट हो जाती।

नीरद का जो भाव नज़दीक रहते समय बर्दाश्त हो गया था वही दूर से उसे सबसे अधिक तकलीफ़ देता। यह आदमी हँसना एकदम जानता ही नहीं! चिट्ठियों में सबसे अधिक इसका अभाव ही प्रकट होता। इस बात में शशांक के साथ उसकी तुलना उसके मनमें अपने-आप आ उपस्थित होती। तुलना का एक बहाना उस दिन अचानक उपस्थित हुआ। कपड़ा खोजते समय बक्स के नीचे से उसीका बुना हुआ एक अधबना जूता निकला। चार बरस पहले की बात याद आ गई। हेमन्त उन दिनों जीवित था। सब लोग दार्जिलिंग गए हुए थे। आनन्द

और मौज का अन्त नहीं था। हेमन्त और शशांक ने मिलकर चहल-पहल की धूम मचा दी थी। ऊर्मि अपनी एक मौसी से बुनाई का एक नया काम सीखकर आई थी। भैया के जन्मदिन पर देने के लिये एक जोड़ा जूता बुनने लगी। शशांक ने मज़ाक़ में कहा, "भैया को चाहे और जो दो, जूता मत दो। भगवान् मनु ने कहा है, ऐसा करने से गुरुजन का असम्मान होता है।" ऊर्मि ने व्यंग्य करके कहा, "भगवान् मनु ने इस वस्तु का प्रयोग किसपर करने को कहा है?"

शशांक ने मुँह गम्भीर करके कहा, "असम्मान का सनातन अधिकार बहनोई को है। यह मेरा पावना है, सूद समेत अब भारी हो आया है।"

"याद तो नहीं पड़ता।"

"याद पड़ने की बात नहीं है। उस समय तुम निहायत नाबालिग़ थीं। इसीलिये जिस दिन शुभ लग्न में तुम्हारी दीदी के साथ इस सौभाग्यवान का विवाह हुआ था उस दिन सुहागरात के कर्णधार का पद तुम नहीं ग्रहण कर सकीं। आज उस कर-पल्लव की अरचित कान-मलाई इस करपल्लव-रचित जूते के जोड़े में रूप ग्रहण कर रही है। इसके ऊपर मेरा दावा है सो कहे देता हूँ।"

शशांक का वह दावा मंज़ूर नहीं हुआ क्योंकि वह जूता यथासमय प्रणामी के रूप में भैया के चरणों में ही निवेदित हुआ। उसके कुछ समय बाद ऊर्मि ने शशांक का एक पत्र पाया। पाकर वह ख़ूब हँसती रही। वह चिट्ठी आज भी उसके बाक्स में पड़ी हुई है। आज खोलकर उसने उसे फिर से पढ़ा :

"कल तो तुम चली गईं। तुम्हारी स्मृति पुरानी होते-न-होते तुम्हारे नाम एक कलंक की बात फैल गई है। उसे छिपा रखने को मैं कर्तव्य की अवहेलना मानता हूँ।

"मेरे पैरों में एक जोड़ी तालतले की चप्पल बहुतों ने देखी है। किन्तु इससे भी अधिक उसके छेदों को पार करके निकलनेवाली मेरी पद-नख-पंक्ति को ही लोगों ने देखा, जो मेघमुक्त चन्द्रमाला की भाँति दर्शित होती है (देखो—भारतचन्द्र का 'अन्नदामंगल'। उपमा की यथार्थता के विषय में संदेह हो तो अपनी दीदी से जाँच करा सकती हो।) आज सबेरे मेरे दफ़्तर के वृन्दावन नन्दी ने जब मेरे सपादुक चरणों को स्पर्श करके नमस्कार किया तो मेरी पद-मर्यादा की जो विदीर्णता प्रकट हुई उसकी गौरवहीनता से मेरा मन हिल उठा। मैंने सेवक से प्रश्न किया, 'महेश, बता सकते हो कि किस

अनधिकारी के श्रीचरणों में मेरे नये चप्पलों के जोड़े ने गति पाई है?' उसने सिर खुजलाकर कहा, "उस घर की ऊर्मि मौसी के साथ जब आप भी दार्जिलिंग गए थे तो साथ ही साथ चप्पलों की जोड़ी भी गई थी। आपके लौटने के समय एक तो आपके साथ लौटी है लेकिन बाक़ी एक—' उसका मुह लाल हो उठा। मैंने उसे डाँट बताई, 'बस, चुप रह।' वहाँ बहुत-से लोग थे। चप्पल-हरण हीन कार्य है, लेकिन मनुष्य का मन दुर्बल होता है, लोभ का दमन करना कठिन होता है, वह ऐसा काम कर ही डालता है। ईश्वर शायद क्षमा करते हैं, तो भी अपहरण-कार्य में यदि कुछ बुद्धिमानी का परिचय दिया गया हो तो दुष्कर्म की ग्लानि भी बहुत कुछ कम हो जाती है। लेकिन केवल एक चप्पल !!! धिक् !!!

"जिसने यह काम किया है उसका नाम मैंने यथा-संभव गुप्त ही रखा है। वह यदि अपनी स्वभाव-सिद्ध मुखरतावश बेकार चिल्लाना शुरू करे तो भंडाफोड़ हो जायगा। जहाँ मन दुरुस्त होता है वहीं चप्पल को लेकर मनमुटाव निभ सकता है। महेश के समान निन्दकों का मुख एक जोड़ी सुन्दर कलापूर्ण चप्पलों की सहायता से अनायास ही बंद कर सकती

हो। ज़रा उसकी हिमाक़त तो देखो! पैरों का माप साथ भेज रहा हूँ।"

चिट्ठी पाकर ऊर्मि स्मित हास्य के साथ उनका जूता बुनने बैठी थी किन्तु ख़त्म नहीं कर सकी। उस काम में उसका उत्साह नहीं रह गया था। आज इस असमाप्त जूते का आविष्कार करके उसने स्थिर किया कि इसे दार्जिलिंगयात्रा के वार्षिक दिन को वह शशांक को उपहार देगी, और कुछेक सप्ताह बाद ही वह दिन आनेवाला था। उसने गहरी लंबी साँस ली—कहाँ गए वे दिन जो हँसी से उज्ज्वल आकाश में हल्के पंखों पर उड़ जाया करते थे! आज तो अवकाशहीन कर्तव्य-कठोर मरु-जीवन सामने फैला हुआ है!

आज होली का दिन है। मुफ़स्सिल के काम से आज होली खेलने में शशांक को योग देने का समय प्राप्त नहीं था। इस दिन की बात वे लोग भूल ही गए थे। ऊर्मि ने आज शय्यागता दीदी के चरणों में अबीर चढ़ाकर प्रणाम किया। इसके बाद खोजती-खोजती शशांक के आफ़िस के कमरे में जा पहुँची जहाँ वह डेस्क पर झुका हुआ लिख रहा था। पीछे से जाकर ऊर्मि ने उसके सिर पर अबीर मल दी, काग़ज़ पत्र लाल हो उठे। फिर तो मत्तता का ज़ोर शुरू

हो गया। डेस्क पर दावात में लाल स्याही थी। शशांक ने उसे ऊर्मि की साड़ी पर ढाल दिया। हाथ पकड़कर उसीके आँचल से अबीर निकालकर ऊर्मि के मुँह पर मल दिया। फिर दौड़-धूप, धक्कामुक्की, शोर.गुल। स्नानाहार का समय निकल गया, ऊर्मि की ऊँची हँसी के उच्छ्वास से सारा मकान मुखरित हो उठा। आखिरकार शशांक के अस्वास्थ्य की आशंका से दूत पर दूत भेजकर शर्मिला ने दोनोंको निवृत्त किया।

दिन बीत गया, रात बहुत ढल आई। पुष्पित कृष्णचूड़ा की शाखाओं को नीचे छोड़कर पूर्णचन्द्रमा अनावृत आकाश में उठ आया। अचानक फागुनी हवा का झोंका झरझर शब्द करता हुआ बगिया के समस्त पेड़-पौधों पर तरङ्गित हो उठा, नीचे की छाया के जाल ने उसका साथ दिया। खिड़की के पास ऊर्मि चुपचाप बैठी थी। उसे किसी तरह नींद नहीं आ रही थी। छाती में रक्त का हिल्लोल शांत नहीं हुआ था। आम की बौर की सुगंध से मन भर उठा था। आज वसन्त में माधवीलता की प्रत्येक मज्जा में फूल खिलाने की जो वेदना जाग्रत थी, मानो वही वेदना ऊर्मि की समस्त देह को भीतर से उत्सुक कर रही थी। पास के नहाने के घर में जाकर

उसने सिर धोया। गीले तौलिए से बदन पोंछ लिया। बिस्तर पर करवट बदलते बदलते थोड़ी देर बाद स्वप्न-जड़ित निद्रा से वह आविष्ट हो गई।

रात को तीन बजे नींद खुली। चाँद उस समय खिड़की के सामने नहीं था। घर में अन्धकार, बाहर प्रकाश और छाया से जड़ित सुपारीवृक्षों की वीथिका। ऊर्मि के वक्षस्थल को चीरकर जैसे रुलाई उमड़ आई जो किसी प्रकार रुकना नहीं चाहती। तकिए में मुँह ढककर वह रोने लगी। प्राणों की यह रुलाई थी, भाषा में इसके लिये शब्द नहीं, अर्थ नहीं। पूछने पर वह क्या बता सकती कि कहाँ से उसके देह और मन में वेदना का यह ज्वार उद्वेल हो उठा है और बहा ले जा रहा है दिन की कर्म-सूची—रात की सुख-निद्रा को।

सवेरे जब उसकी नींद खुली तो घर में धूप आ गई थी। सवेरे के काम में फाँक पड़ गया। थकान की बात याद करके शर्मिला ने उसे क्षमा किया। किस बात के अनुताप से ऊर्मि आज अवसन्न थी? क्यों उसे लग रहा है कि उसकी हार शुरू हो गई है। दीदी से जाकर बोली, "दीदी मैं तो तुम्हारा कोई काम कर नहीं सकती, कहो तो घर लौट जाऊँ।"

आज तो शर्मिला यह नहीं कह सकी कि 'नहीं, मत जा।' बोली, "अच्छा, तू जा। तेरी पढ़ाई-लिखाई का नुक़सान हो रहा है। बीच-बीच में जब समय मिले तब देख जाना।"

शशांक उस समय काम पर निकल गया था। मौक़ा देखकर ऊर्मि उसी दिन घर लौट गई।

शशांक उस दिन यान्त्रिक चित्र खींचने का एक सेट ख़रीदकर घर लौटा। ऊर्मि को देगा, उसे यह विद्या सिखाने की बात थी। लौटकर उसे यथास्थान न देखकर शर्मिला से आकर पूछा, 'ऊर्मि कहाँ गई ?"

शर्मिला बोली, "यहाँ उसकी पढ़ाई-लिखाई में असुविधा हो रही थी इसीलिये घर चली गई।'

"कुछ दिन असुविधा भोग करने के लिये तो वह तैयार होकर ही आई थी। अचानक आज ही असुविधा की बात कैसे उठी ?"

बात के लहज़े से शर्मिला ने समझा कि शशांक उसीपर संदेह कर रहा है। इस विषय में कोई व्यर्थ का तर्क न करके बोली, "मेरी ओर से तुम उसे बुला लाओ, निश्चय ही उसे कोई एतराज़ नहीं होगा।"

उधर ऊर्मि जब अपने घर लौटकर आई तो देखा कि बहुत

दिनों के बाद नीरद की चिट्ठी आकर उसकी प्रतीक्षा कर रही है। मारे डर के वह खोल ही नहीं सकी। मन ही मन जानती थी कि मेरी ओर से अपराध जमा हो गए हैं। नियम भंग की कैफ़ियत देने के लिये इसके पहले दीदी की बीमारी का उल्लेख किया था, पर कुछ दिनों से यह कैफ़ियत प्राय: मिथ्या हो आई है। शशांक ने विशेष रूप से ज़िद करके शर्मिला के लिये दिन और रात के लिये अलग-अलग नर्सें नियुक्त कर दी हैं। डाक्टर के निर्देशानुसार वे लोग रोगी के घर में आत्मीय-स्वजनों का आना-जाना बंद कर दिया करती हैं। ऊर्मि मन ही मन जानती थी कि नीरद दीदी की बीमारी-वाली कैफ़ियत को बहुत बड़ी बात नहीं मानेगा। कहेगा, 'यह बेकार की बात है।' सचमुच ही यह बेकार की बात है। मेरी तो वहाँ कोई ज़रूरत नहीं है। पश्चात्ताप-भरे मन से उसने निश्चय किया कि इस बार दोष स्वीकार करूँगी और क्षमा माँगूँगी। कहूँगी, 'अब कोई ग़लती नहीं करूँगी, कभी भी नियम भंग नहीं करूँगी।'

चिट्ठी खोलने से पहले बहुत दिनों के बाद उसने नीरद के उसी फ़ोटो को निकाला और मेज़ पर रख दिया। जानती

थी, इस चित्र को देखकर शशांक ख़ूब मज़ाक़ उड़ाएगा। तो भी ऊर्मि उसके मज़ाक़ से एकदम कुण्ठित नहीं होगी, बिल्कुल नहीं झेंपेगी। यही उसका प्रायश्चित है। दीदी के घर वह इस बात को दबा देती थी कि नीरद के साथ उसका विवाह होगा। दूसरे लोग भी इस प्रसंग को नहीं उठाते थे क्योंकि वह सभी को अप्रिय था। आज मुट्ठी बाँधकर ऊर्मि ने स्थिर किया कि अपने सब व्यवहारों में इस प्रसंग की घोषणा वह ज़ोर के साथ ही किया करेगी। एंगेजमेंट (मँगनी) की अँगूठी को कुछ दिनों से उसने छिपा रखा था। निकालकर आज उसे धारण किया। अँगूठी निहायत कम दाम की थी,—नीरद ने अपनी ईमानदारी-भरी ग़रीबी के गर्व से ही इस सस्ती अँगूठी का दाम हीरे से भी अधिक बढ़ा दिया था। भाव यह था कि 'अँगूठी के दाम से मेरा दाम नहीं निश्चित होता, मेरे दाम ही से अँगूठी का दाम निश्चित होता है।'

इस प्रकार यथासाध्य अपना संशोधन करने के बाद ऊर्मि ने लिफ़ाफ़ा खोला।

चिट्ठी पढ़कर हठात् उछल पड़ी। नाचने की इच्छा हुई पर नाच का उसे अभ्यास नहीं था। बिस्तर पर

सितार पड़ा हुआ था, उसे उठाकर सुर बाँधे बिना ही झनाझन झंकार देती हुई जो जी में आया वही बजाने लगी।

ठीक ऐसे ही समय शशांक ने घर में प्रवेश किया। पूछा, "मामला क्या है? शादी का दिन ठीक हो गया क्या?"

"हाँ, जीजाजी, ठीक हो गया।"

"अब किसी प्रकार इधर-उधर होने की गुंजाइश नहीं?"

"बिल्कुल नहीं।"

"तो फिर इसी समय शहनाई का बयाना दे आऊँ, और भीमचन्द्र नाग के संदेश का?"

"तुम्हें कुछ भी नहीं करना होगा।"

"ख़ुद सब कुछ करोगी? धन्य हो वीराङ्गने! और लड़की का आशीर्वाद?"

"उस आशीर्वाद का रुपया मेरे ही पाकेट से गया है।"

"तो मछली के तेल में ही मछली तली गई है! कुछ ठीक समझ में नहीं आया।"

"यह लो समझ लो।"

—कहकर चिट्ठी उसके हाथ पर रख दी। पढ़कर शशांक हाः हाः हाः करके हँस पड़ा।

लिखा है, रिसर्च के जिस दुरूह कार्य में नीरद अपने आपको लगा देना चाहता है, वह भारतवर्ष में सम्भव नहीं है। इसीलिये उसे अपने जीवन में एक और बड़ा बलिदान करना पड़ेगा। ऊर्मि के साथ विवाह-सम्बन्ध विच्छिन्न किए बिना अब चल ही नहीं सकता। एक यूरोपीय महिला उसके साथ विवाह करके उसके कार्य में आत्मनियोग करने को तैयार हैं। लेकिन काम तो वही है, भारतवर्ष में हो तो, और विलायत में हो तो। राजारामबाबू ने जिस कार्य के लिये धन देना चाहा था, उसका कुछ हिस्सा वहाँ लगाने में कोई अन्याय नहीं है। उससे मृत व्यक्ति का सम्मान ही होगा।

शशांक ने कहा, "जीवित व्यक्ति को कुछ-कुछ देकर यदि उस दूरदेश में ही जिला रख सको तो बुरा क्या है ? क्योंकि यदि रुपया बंद कर दिया जाय तो भूख की ज्वाला से अधमरा होकर यहाँ दौड़ा चला आयगा, यह आशंका है।"

ऊर्मि ने हँसकर कहा, "यदि तुम्हारे मन में यह डर हो तो रुपया तुम्हीं भेजना, मैं तो एक पैसा भी नहीं देती।"

शशांक बोला, "फिर से मन तो नहीं बदलेगा न ? मानिनी का अभिमान तो अटल ही बना रहेगा ?"

"यदि बदला ही तो तुम्हें इससे क्या, जीजाजी?"

"सवाल का सही जवाब दूँ तो तुम्हारा अहंकार बढ़ जायगा इसीलिये तुम्हारी भलाई के लिये चुप रहता हूँ। पर सोचता हूँ कि इस आदमी का गंडस्थल तो कम नहीं है—अंग्रेज़ी में जिसे कहते हैं चीक।"

ऊर्मि के मन से एक बड़ा भारी बोझ उतर गया—बहुत दिनों का बोझ। छुटकारे के आनन्द में वह ऐसी विह्वल हुई कि कुछ तै हो नहीं कर पाई कि क्या करे, क्या नहीं। कामों की अपनी उस सूची को उसने फाड़कर फेंक दिया। गली में एक भिखमंगा भीख माँग रहा था, उसकी ओर खिड़की से अँगूठी ज़ोर से फेंक दी।

पूछा—"पेन्सिल से निशान बनाई हुई इन पुस्तकों को कोई फेरीवाला क्या ख़रीदेगा?"

"यदि न ख़रीदे, उसका क्या फलाफल होगा, सुनूँ भला!"

"कहीं इसमें पुराने ज़माने का भूत डेरा न डाले रहे! बीच-बीच में आधीरात को मेरे बिछौने के पास अँगुली उठाकर खड़ा हो जाय तो!"

"ऐसी आशंका हो तो फेरीवाले की प्रतीक्षा करने की ज़रूरत नहीं। मैं ख़ुद ख़रीदूँगा।"

"ख़रीदकर क्या करोगे ?"

"हिन्दू-शास्त्रों के अनुसार अन्त्येष्टि संस्कार। यदि तुम्हारे मन को सान्त्वना मिले तो गया तक जाने को तैयार हूँ।"

"ना, इतनी ज़ियादती बर्दाश्त नहीं होगी।"

"अच्छा, अपनी लाईब्रेरी में पिरामिड खड़ा करके इनको 'ममी' बनाकर रख छोड़ूँगा।"

"लेकिन, आज तुम अपने काम पर नहीं जा सकोगे।"

"सारा दिन ?"

"सारा दिन।"

"क्या करना होगा ?"

"मोटर पर चम्पत हो जायँगे।"

"दीदी से छुट्टी माँग लाओ।"

"ना, लौटकर आऊँगी तभी दीदी से कहूँगी। उस समय मुझपर ख़ूब डाँट पड़ेगी सो बर्दाश्त हो जाएगी।"

"अच्छी बात है। मैं भी तुम्हारी दीदी की डाँट पचा लेने को तैयार हूँ। टायर यदि फट जाय तो दुःखित नहीं हूँगा। घंटे में पैंतालीस मील की रफ़्तार से दो चार जनों को कुचलता हुआ जेलख़ाने तक पहुँचने में भी

कोई एतराज़ नहीं है किन्तु तीन बार प्रतिज्ञा करो कि इस मोटर की रथ-यात्रा को समाप्त करके तुम हमारे ही घर लौट चलोगी।"

"चलूँगी, चलूँगी, चलूँगी।"

मोटर-यात्रा के बाद दोनों भवानीपुर के घर में लौट आए किन्तु घण्टे में पैंतालीस मील की रफ़्तार का वेग रक्त में तब भी जारी था, वह किसी प्रकार रुकना ही नहीं चाहता। संसार का सारा दायित्व, भय और लज्जा इस वेग के सामने विलुप्त हो गए।

कई दिन तक शशांक को सारे कामकाज भूल गए। मन ही मन उसने समझा कि यह अच्छा नहीं हो रहा है। कामकाज का नुक्सान बहुत भारी होना भी असंभव नहीं। रात को बिस्तर पर सोए सोए वह दुश्चिंता-वश दुःसंभावनाओं को बढ़ा-बढ़ाकर देखता। किन्तु दूसरे दिन फिर 'स्वाधिकार प्रमत्त' मेघदूत के यक्ष के समान हो जाता। एक बार शराब पीने पर उसके अनुताप को ढकने के लिये फिर से पीना पड़ता है।

शशांक

कुछ दिन इसी प्रकार बीते। आँखों में ख़ुमारी आई, मन आविल हो गया।

अपने को ठीक-ठीक समझने में ऊर्मि को थोड़ा समय लगा किन्तु एक दिन वह अचानक चौंक उठी। अपनेको उसने समझा।

न जाने क्यों मथुराभैया से वह डरा करती, बराबर उनकी नज़र बचाकर निकल जाने का प्रयत्न करती। उस दिन मथुरा प्रातःकाल दीदी के घर में आया और दुपहरी तक रहकर चला गया। उसके बाद दीदी ने ऊर्मि को बुलवा भेजा। उसका मुँह कठोर होकर भी शान्त था। बोली, "प्रतिदिन उनके कामकाज में विघ्न डालकर यह क्या अनर्थ कर रखा है तूने, पता है?"

ऊर्मि डर गई। बोली, "क्या हुआ है?" दीदी ने कहा—"मथुराभैया बता गए हैं कि कुछ दिनों से तेरे बहनोई अपना काम बिल्कुल नहीं देख रहे हैं। जवाहरलाल पर भार दिया था, उसने खुले-हाथ माल-मसाले की

चोरी की है, बड़े-बड़े गुदामों की छतें झँझरी हो गई हैं, उस दिन की वृष्टि से इसका पता लगा है। माल बरबाद हो रहा है। हमारी कंपनी का बड़ा नाम है, इसीलिये उन लोगों ने जाँच नहीं की थी। अब बड़ी भारी निन्दा और नुक़सानी गर्दन पर सवार हो गई है। मथुराभैया अलग होना चाहते हैं।"

ऊर्मि की छाती धक्-धक् करके धड़कने लगी। क्षणभर में बिजली की रोशनी में मानों उसने अपने मन के प्रच्छन्न रहस्य को देख लिया। स्पष्ट ही समझ गई कि न जाने कब अनजाने में उसके मन का भीतरी हिस्सा मतवाला हो उठा था,—भला-बुरा वह कुछ भी सोच नहीं सकी थी। शशांक का कार्य ही मानों उसका प्रतिद्वंदी था, उसीसे उसकी कुट्टी थी। उसे कामकाज से अपने पास खींच लाने के लिये ऊर्मि सदा छटपटाया करती। कितनी ही बार ऐसा हुआ था कि शशांक स्नानागार में था और काम से यदि कोई मिलने आया तो ऊर्मि ने कहला दिया, "कह दो अभी भेंट नहीं होगी।"

उसे डर बना रहता कि कहीं ऐसा न हो कि स्नान से निकलते ही शशांक को फ़ुरसत न मिले; कहीं ऐसा न हो कि वह कामकाज में उलझ जाय और ऊर्मि का

सारा दिन ही व्यर्थ हो जाय। आज अपने दुरन्त नशे की सांघातिक मूर्ति उसकी आँखों के सामने प्रत्यक्ष हो उठी। वह उसी समय दीदी के चरणों पर पछाड़ खाकर गिर पड़ी। बारंबार रुधे गले से कहने लगी—"खदेड़ दो मुझे अपने घर से, अभी निकाल बाहर करो मुझे!"

आज दीदी ने निश्चित रूप से स्थिर कर लिया था कि ऊर्मि को किसी प्रकार भी क्षमा नहीं करेंगी। लेकिन मन पिघल गया।

धीरे-धीरे ऊर्मिमाला के सिर पर हाथ फेरती हुई बोली—"कुछ चिन्ता न कर। कोई-न-कोई उपाय होगा ही।"

ऊर्मि उठकर बैठ गई। बोली, "दीदी, तुम्हीं लोगों का क्यों नुक़सान होगा? मेरे भी तो रुपया है।"

शर्मिला ने कहा—"पागल हुई है! क्या मेरे पास कुछ भी नहीं है? मथुराभैया से मैंने कह दिया है, वे कुछ गोलमाल न करें, मैं रुपया भर दूँगी। और तुझे भी कहती हूँ, ऐसा न हो कि तेरे जीजाजी के कानों यह बात पहुँच जाय कि मेरे पास तक भी ख़बर पहुँची है, भला?"

"माफ़ करो दीदी, मुझे माफ़ करो" कहकर ऊर्मि फिर दीदी के पैरों पर माथा रगड़ने लगी।

शर्मिला आँखों के आँसू पोंछकर क्लान्त स्वर में कहने लगी, "कौन किसे माफ़ करेगा बहन? संसार बड़ा जटिल है। जो सोचती हूँ वह होता नहीं, जिसके लिये प्राणों की बाज़ी लगा देती हूँ, वही खिसक पड़ता है।"

ऊर्मि दीदी को छोड़कर अब क्षण भर के लिये भी हिलना नहीं चाहती। दवा देना, नहलाना-खिलाना-सुलाना सब छोटी-मोटी बातें वह स्वयं करने लगी। फिर से पढ़ना शुरू किया। सो भी दीदी के पास बैठकर। ख़ुद पर अब उसका विश्वास नहीं रह गया था, शशांक पर भी नहीं।

नतीजा यह हुआ कि शशांक बार-बार रोगिणी के कमरे में आने लगा। पुरुष की अन्धतावश ही वह यह समझ नहीं सका कि उसकी छटपटाहट का तात्पर्य स्त्री को मालूम हो जाता है। ऊर्मि मारे शर्म के गड़ जाती। शशांक आता है मोहनबागान के फ़ुटबाल का प्रलोभन लेकर : व्यर्थ होता है। पेंसिल से चिह्नित अख़बार में चार्ली चैपलिन का विज्ञापन दिखाता है : कोई नतीजा

नहीं निकलता। ऊर्मि जब दुर्लभ नहीं थी तब भी बाधा-विघ्न के भीतर से शशांक कामकाज किया ही करता था, किन्तु अब वह एकदम असम्भव हो उठा।

हतभाग्य के इस निरर्थक निपीड़न से शर्मिला पहले तो बड़े दुःख के भीतर भी सुख पाती। किन्तु बाद में उसने देखा कि उसकी पीड़ा प्रबल हो उठी है, मुँह सूख गया है, आँखों के नीचे झाँई पड़ गई है। ऊर्मि खाने के समय पास नहीं बैठती इसलिये शशांक के खाने का उत्साह और परिमाण दोनों कम होते जा रहे हैं, यह उसे देखने से ही प्रकट हो जाता। कुछ दिन पहले इस घर में आनन्द की जो बाढ़ आई थी वह बिल्कुल उतर गई है, और फिर भी पहले उनकी जो सहज दिनचर्या थी वह भी नहीं रह गई है।

कभी शशांक अपने चेहरे को सँवारने के विषय में उदासीन था। नाई से बाल बनवाते समय प्रायः सिर मुँड़ा ही लेता था, कंघी की ज़रूरत तो चौथाई की चौथाई तक जा पहुँचती थी। शर्मिला इसके लिये पहले बहुत वाग्वितंडा करती, बाद में हारकर उसने पतवार छोड़ दी थी। परन्तु इन दिनों ऊर्मि की ऊँची हँसी से मिली हुई संक्षिप्त आपत्ति भी निष्फल नहीं होती।

नये संस्करण के केशोद्गम के साथ सुगन्धित तेल का संयोग-साधन शशांक के सिर में यह पहली बार ही जुटा है। लेकिन आजकल केशोन्नति-विधान के प्रति अनादर से ही उसकी अन्तर्वेदना पकड़ी गई है। सो भी इतनी अधिक कि उसे उपलक्ष्य बनाकर प्रकट या अप्रकट तीव्र हँसी भी अब चल नहीं सकती। शर्मिला की उत्कंठा ने उसके क्षोभ को अभिभूत कर दिया। पति के प्रति करुणा और अपने प्रति धिक्कार से उसका हृदय फटने लगा, रोग की पीड़ा और भी बढ़ने लगी।

मैदान में क़िले के फ़ौजदारों की लड़ाई का खेल होनेवाला था। शशांक ने डरते-डरते पूछा—"चलोगी ऊर्मि, देखने? अच्छी-सी जगह रिज़र्व करा ली है मैंने।"

ऊर्मि के कोई उत्तर देने से पहले ही शर्मिला बोल उठी, "जायगी क्यों नहीं, ज़रूर जायगी। ज़रा बाहर घूम आने के लिये वह छटपटा रही है।"

बढ़ावा पाकर दो दिन बीतते-न-बीतते उसने फिर पूछा—"सर्कस?"

इस प्रस्ताव में ऊर्मिमाला का ही उत्साह दिखाई दिया।

इसके बाद, "बोटैनिकल गार्डन?"

इसमें ज़रा बाधा महसूस हुई। दीदी को छोड़कर देर तक बाहर रहने के पक्ष में ऊर्मि का मन राय नहीं देता।

दीदी ने स्वयं शशांक का पक्ष लिया। दुनिया भर के मजूरों के बीच काम करते-करते दुपहरी भर हैरान होते हैं, सारा दिन केवल धूल-बालू में ही कट जाता है, बाहर की हवा न खा आने से तो शरीर ही भुरकुस हो जायगा।

इसी युक्ति के बल पर स्टीमर में राजगंज तक घूम आना भी असंगत नहीं मालूम हुआ।

शर्मिला मन ही मन कहती, जिसके लिये उन्हें काम-काज के छूट जाने की चिन्ता नहीं है, उसका छूटना उन्हें बर्दाश्त नहीं होगा।

शशांक को किसीने स्पष्ट रूप से कहा नहीं था लेकिन चारों ओर से वह एक अव्यक्त समर्थन पाने लगा। शशांक ने एक प्रकार से ठीक ही कर लिया कि शर्मिला के मन में कोई विशेष पीड़ा नहीं है, उन दोनोंको एकत्र प्रसन्न देखकर ही वह प्रसन्न रहेगी। साधारण स्त्री के लिये यह संभव नहीं हो सकता था पर शर्मिला तो असाधारण है। शशांक जिन दिनों नौकरी करता था

उन्हीं दिनों किसी कलाकार ने रंगीन पेन्सिल से शर्मिला का चित्र बनाया था। इतने दिन तक वह पोर्टफ़ोलियो के भीतर था। उसे निकालकर उसने विलायती दूकान से बेशक़ीमती फ़्रेम में मढ़वाया और अपने आफ़िसवाले कमरे में, जहाँ बैठता था, उसके ठीक सामने दीवाल पर टाँग दिया। सामने एक फूलदानी रखी गई जिसमें माली रोज़ फूल सजा जाया करता।

आख़िरकार एक दिन शशांक जब ऊर्मि को बाग़ीचे में यह दिखा रहा था कि सूर्यमुखी कैसी खिली हुई है, अचानक एक बार उसका हाथ पकड़कर बोला, "तुम ज़रूर जानती हो, मैं तुम्हें प्यार करता हूँ। और तुम्हारी दीदी? वे तो देवी हैं। मैं उनकी जितनी भक्ति करता हूँ उतनी जीवन में और किसीकी नहीं करता। वे पृथ्वी की मानवी नहीं, हम लोगों के धरातल से बहुत ऊँचे रहनेवाली हैं।"

दीदी ने ऊर्मि को बार-बार स्पष्ट रूप से समझा दिया है कि जब वे इस जगत् में नहीं रहेंगी, उस समय उनकी जो सबसे बड़ी सान्त्वना होगी, वह ऊर्मि को देखकर ही होगी। इस गिरस्ती में और किसी स्त्री का आविर्भाव होगा, यह कल्पना भी दीदी को कष्ट पहुँचाती। और

फिर शशांक का ध्यान रखने के लिये कोई स्त्री रहेगी ही नहीं यह निगोड़ी अवस्था भी दीदी को सह्य नहीं हो सकती। दीदी ने उसे रोज़गार की बात भी समझा दी है, कहा है, यदि उनके प्रेम में बाधा पड़ी तो सारा कारबार चौपट हो जायगा। उनका मन जब तृप्त होगा तो कारबार में अपने आप तरक्की आ जायगी।

शशांक का मन मतवाला हो गया है। वह एक ऐसे चन्द्रलोक में रहने लगा है जहाँ संसार की सारी ज़िम्मेवारी सुख-तन्द्रा में लीन है। आजकल रविवार के पालन में उसकी निष्ठा विशुद्ध ईसाई के समान अविचल हो गई है। एक दिन शर्मिला से जाकर बोला, "देखो, जूटवाले अंग्रेज़ों से उनका स्टीमलञ्च मिल गया है, कल रविवार है, सोचा है सबेरे ऊर्मि को लेकर डायमण्ड हार्बर हो आऊँ। शाम होने से पहले ही लौट आऊँगा।"

शर्मिला के वक्षःस्थल की शिराओं को जैसे किसीने मरोड़ दिया, मारे पीड़ा के उसके मस्तक का चमड़ा सिकुड़ गया। शशांक को यह बात दिखो ही नहीं। शर्मिला ने केवल एक बार प्रश्न किया—"खाने-पीने की क्या व्यवस्था की है ?" शशांक ने कहा—"होटल में ठीक कर लिया है।" एक

दिन जब यह सब ठीक करने का भार शर्मिला पर था तब शशांक उदासीन था। आज सब कुछ उलट गया है।

ज्यों ही शर्मिला ने कहा—"अच्छा, हो आना"—कि क्षण भर की प्रतीक्षा किए बिना ही शशांक बाहर निकल गया। शर्मिला को इच्छा हुई कि चिल्लाकर रोए। तकिए में मुँह छिपाकर बार-बार कहने लगी, "अब अधिक क्यों जी रही हू !"

कल रविवार को उनके ब्याह का वार्षिक दिन था। आज तक इस अनुष्ठान में कभी नागा नहीं हुआ। इस बार भी पति को बिना बताए ही, बिस्तर पर लेटे-लेटे उसने सारी तैयारी की थी। और कुछ नहीं, ब्याह के दिन शशांक ने जो लाल बनारसी धोती-चादर का जोड़ पहना था, वही उसे पहनाएगी, पति के गले में माला देकर सामने बैठाकर खिलाएगी, धूपबत्ती जला देगी और पास के कमरे में ग्रामोफ़ोन पर शहनाई बजेगी। और-और साल शशांक उसे कुछ बताए बिना चुपके से कोई न कोई शौक़िया चीज़ ख़रीदकर दिया करता। शर्मिला ने सोचा था, इस बार भी ज़रूर देंगे, कल जान सकूँगी।

आज वह कुछ भी बर्दाश्त नहीं कर पा रही थी। घर में जब कोई नहीं होता, उस समय केवल बार-बार यही चिल्ला उठती कि "सब मिथ्या है, मिथ्या है, मिथ्या है, क्या होगा इस ल से!"

रात को उसे नींद नहीं आई। सवेरे मोटर गाड़ी दरवाज़े के पास से निकल गई, आवाज़ शर्मिला के कानों तक पहुँची। वह फफक-फफककर रो पड़ी, "ठाकुर तुम झूठ हो!"

यहाँ से रोग तेज़ी से बढ़ चला। दुर्लक्षण जिस दिन अत्यन्त प्रबल हो उठा उस दिन शर्मिला ने पति को बुलवाया। सायंकाल का समय था, घर में धुँधला प्रकाश। नर्स को हट जाने का संकेत किया। पति को पास बैठाकर हाथ पकड़कर बोली, "जीवन में मैंने भगवान् से जो वर पाया था वह तुम्हीं हो। उस-योग्य शक्ति मुझे उन्होंने नहीं दी। जितना कर सकी, किया। दोष बहुत हुए हैं, क्षमा करना।"

शशांक जाने-क्या कहने जा ही रहा था कि शर्मिला बाधा देकर बोली, "ना, कुछ मत कहो। ऊर्मि को तुम्हारे हाथों दिए जा रही हूँ। वह मेरी अपनी बहन है। उसमें तुम मुझीको पाओगे,—और भी बहुत कुछ पाओगे जो

मुझमें नहीं पा सके। नहीं, चुप रहो, कुछ बोलो मत, सिर्फ़ सुन लो। मरण-काल में ही मेरा सौभाग्य पूर्ण हुआ, तुम्हें सुखी कर सकी!"

नर्स ने बाहर से आवाज़ दी—"डाक्टर साहब आए हैं।"

शर्मिला ने जवाब दिया—"लिवा लाओ।"

बात वहीं बंद हो गई।

शर्मिला के मामा सब प्रकार की अशास्त्रीय चिकित्सा में उत्साही थे। इन दिनों वे एक संन्यासी की सेवा में नियुक्त थे। जब डाक्टरों ने कह दिया कि अब कुछ करने को नहीं रह गया तो उन्होंने ज़िद की कि हिमालय की गुहा से आए हुए बाबाजी की दवा भी आज़मा ली जानी चाहिए। न जाने कौन-सी तिब्बती जड़ी का चूर्ण और प्रचुर दूध—यही दवा के उपकरण थे।

शशांक किसी प्रकार नीम-हकीमी को बर्दाश्त नहीं कर सकता। उसने आपत्ति की। शर्मिला बोली, "और कोई फल तो होगा नहीं लेकिन मामाजी को सन्तोष हो जायगा।"

देखते-देखते फल मिला। साँस का कष्ट कम हुआ, ख़ून का उठना बंद हो गया। सात दिन बीत गए, पंद्रह दिन निकल गए। शर्मिला उठकर बैठ गई। डाक्टर ने कहा—"मृत्यु के समय शरीर मौत की तरफ़ बेपरवाह हो जाता है, आख़िरी धक्के के समय बहुत बार अपने को आप ही सम्हाल लेता है।"

शर्मिला जी गई।

उस समय वह सोचने लगी, यह कैसी आफ़त आई! अब क्या करूँ? आख़िरकार क्या जी जाना ही मरने से भी कठिन हो उठेगा? उधर ऊर्मि अपना सामान सम्हाल रही थी। यहाँ उसका अभिनय समाप्त हो गया।

दीदी ने आकर कहा—"तू जा नहीं सकेगी।"

"यह कैसी बात?"

"हिंदू-समाज में क्या कभी किसी लड़की ने बहन की सौत होकर गृहस्थी नहीं चलाई?"

"छिः!"

"लोक-निन्दा! तो विधाता के विधान से भी क्या लोगों के मुँह की बात ही बड़ी होगी?"

शशांक को बुलाकर कहा, "चलो हम लोग नेपाल चलें। वहाँ दरबार में तुम्हें नौकरी मिलनेवाली थी—

ज़रा-सी कोशिश करने से ही पा जाओगे। उस देश में कोई बात नहीं उठेगी।"

शर्मिला ने किसीको दुविधा में पड़ने का अवकाश ही नहीं दिया। जाने की तैयारी होने लगी। ऊर्मि तब भी उदास होकर कोने-कोने छिपती फिरती।

शशांक ने उससे कहा, "आज यदि तुम मुझे छोड़ जाओ तो क्या दशा होगी, सोचकर देखो।" ऊर्मि ने जवाब दिया, "मैं कुछ सोच ही नहीं पा रही। तुम दोनों जो करोगे वही होगा।"

सब कुछ सम्हाल लेने में थोड़ा समय लगा। इसके बाद जब समय नज़दीक आया तो ऊर्मि ने कहा—"और सात दिन रुक जाओ, काकाजी से कुछ ज़रूरी बातें कर लूं।"

ऊर्मि चली गई।

इसी समय मथुरा मुँह भारी किए शर्मिला के पास आया। बोला, "तुम लोग ठीक समय पर ही जा रहे हो। तुम्हारे साथ बातचीत पक्की हो जाने के बाद ही मैंने आपस में शशांक के साथ काम बाँट लिया था। अपने साथ उसके नफ़े-नुकसान की ज़िम्मेवारी नहीं रखी।

इधर काम से हाथ खींचने के लिये शशांक कई दिन से हिसाब मिला रहा है। देखा गया कि तुम्हारा सारा रुपया डूब गया है। उसके ऊपर भी जो देना ठहरा है उसके लिये शायद् मकान बेंचना पड़ेगा।"

शर्मिला ने पूछा—"सत्यानाश इतनी दूर तक बढ़ गया! वे जान ही नहीं सके?"

मथुरा ने कहा—"सत्यानाश प्रायः गाज गिरने के समान आता है। जिस क्षण मारता है उससे पहले उसका पता भी नहीं चलता। शशांक ने समझा था कि नुक़सान हो रहा है। उस समय थोड़े में ही सम्हाल लिया जा सकता था, लेकिन दुर्बुद्धि हुई। कारबार की ग़लती को जल्दी-जल्दी सुधार लेने के लिये कोयले के बाज़ार में तेज़ी-मंदी का खेल खेलने लगा। तेज़ी के बाज़ार में जो ख़रीदा था उसे मंदी के बाज़ार में बेंच देना पड़ा। अचानक आज मालूम हुआ कि अतिशबाज़ी की तरह सब उड़ गया है, बच रही है केवल राख। इस समय यदि भगवान् की कृपा से नेपाल में काम मिल जाय तो तुम लोगों को भटकना नहीं पड़ेगा।"

शर्मिला ग़रीबी से नहीं डरती। बल्कि वह जानती है कि अभाव के समय पति की गृहस्थी में उसका स्थान

और भी बड़ा हो जायगा। दरिद्रता की कठोरता को यथासंभव मुलायम बनाकर वह दिन काट ले जा सकेगी, यह विश्वास उसे है। विशेष करके हाथ में अब भी जो कुछ गहने हैं, उनसे उसे ज्यादा कष्ट नहीं होगा। यह बात भी संकोच के साथ मन में रह-रहकर उठ खड़ी होती है कि ऊर्मि के साथ विवाह हो जाने के बाद उसकी सम्पत्ति भी तो पति की ही होगी। लेकिन केवल ज़िंदगी के दिन किसी प्रकार काट लेना ही तो काफ़ी नहीं है। इतने दिनों तक अपनी शक्ति से अपने ही हाथों पति ने जो संपत्ति जोड़ी थी, जिसके लिये शर्मिला ने अपने हृदय की अनेक प्रबल माँगों को जानबूझकर दबा रखा था, वही—उनके सम्मिलित जीवन की मूर्तिमती आशा—मरीचिका के समान बिला गई। इसीकी गौरवहानि ने उसे मिट्टी के साथ मिला दिया। मन ही मन कहने लगी, उसी समय अगर मर जाती तो इस धिक्कार से तो बच जाती। मेरे भाग्य में जो था सो तो हुआ, लेकिन दैन्य और अपमान की यह निदारुण शून्यता एक दिन उनके मन में न जाने कैसा परिताप ला देगी। जिसके मोह में अभिभूत हो जाने से यह सब सम्भव हुआ उसे, ख़ूब सम्भव, एक दिन ऐसा भी

आएगा जब वे माफ़ नहीं कर सकेंगे, उसका दिया हुआ अन्न ज़हर के समान लगेगा। अपनी मत्तता का परिणाम देखकर उन्हें लाज आएगी, दोष देंगे मदिरा को। यदि अन्त तक ऊर्मि की सम्पत्ति पर अवलम्बित होना आवश्यक हा हो जाय तो इस आत्मावमान के क्षोभ से वे ऊर्मि को प्रति मुहूर्त जला मारेंगे।

इधर मथुरा के साथ हिसाब करने से शशांक को अचानक मालूम हुआ कि शर्मिला का सारा रुपया उसके रोज़गार में डूब गया है। अब तक शर्मिला ने उसे यह बात बताई नहीं थी, मथुरा के साथ तै कर लिया था।

शशांक को याद आया नौकरी छोड़ने के बाद उसने कभी शर्मिला से ही रुपया लेकर कारबार जमाया था। आज कारबार नष्ट करके शर्मिला का ऋण सिर पर लादकर ही वह फिर नौकरी करने चला है। यह ऋण तो अब उतारा जा नहीं सकता; नौकरी की बँधी आमदनी से यह ऋण कभी चुकनेवाला नहीं है। नेपाल जाने में दस दिन को और देर है। वह रात भर सो नहीं सका। सबेरे छटपटाकर उठते ही आईने के सामने खड़ा हो गया और अचानक मेज़ पर मुक्का मारकर

बोल उठा—"नहीं जाता नेपाल!" दृढ़ प्रतिज्ञा की, "हम दोनों ऊर्मि को लेकर कलकत्ते में ही रहेंगे—भृकुटि-कुटिल समाज की क्रूर दृष्टि के सामने ही! और इसी कलकत्ते में रहकर फिर से टूटे रोज़गार को नये सिरे से गढ़कर खड़ा कर दूँगा।"

कौन-से सामान ले जाने होंगे और कौन-से छोड़ जाने होंगे, शर्मिला इसीका एक तख़मीना बना रही थी कि आवाज़ सुनाई पड़ी—"शर्मिला, शर्मिला!" जल्दी-जल्दी खाता फेंककर पति के कमरे में दौड़ी। अकस्मात् अनिष्ट की आशंका करके काँपते हृदय से पूछा—"क्या हुआ?"

शशांक बोला—"नहीं जाता नेपाल। परवा नहीं मुझे समाज की। यहीं रहूँगा!"

शर्मिला ने पूछा—"क्यों, क्या हुआ?"

शशांक ने कहा—"काम है।"

वही पुरानी बात! काम है! शर्मिला का वक्षःस्थल थरथर काँप उठा। "शर्मि, यह न समझना कि मैं कापुरुष हूँ। ज़िम्मेवारी छोड़कर मैं भागूँगा! इतने अधःपतन की भी तुम कल्पना कर सकती हो?"

शर्मिला ने पास जाकर उसका हाथ पकड़ा, बोली,

"क्या हुआ, मुझसे समझाकर कहो।" शशांक ने कहा—"मैंने फिर तुमसे रुपया कर्ज़ लिया है, यह बात छिपाओ मत।"

शर्मिला बोली,—"अच्छा, बहुत अच्छा।"

शशांक ने कहा—"उसी दिन की तरह आज से कर्ज़ चुकाने जाता हूँ। जो डुबाया है उसे अवश्य निकाल लाऊँगा, यही मेरी प्रतिज्ञा है, सुन रखो। उस दिन तुमने जिस प्रकार मेरे ऊपर विश्वास किया था उसी प्रकार फिर करना।"

शर्मिला ने स्वामी की छाती पर सिर रखकर कहा—"तुम भी मेरे ऊपर विश्वास रखना। मुझे काम-काज समझा देना, तैयार कर लेना, ऐसी शिक्षा आज से देना कि मैं तुम्हारे के योग्य हो सकूँ।"

बाहर से आवाज़ आई, "चिट्ठी।"

ऊर्मि के हाथ की दो चिट्ठियाँ थीं। एक शशांक के नाम—

"मैं इस समय बंबई के रास्ते में हूँ। विलायत जा रही हूँ। पिताजी के आदेश के अनुसार डाक्टरी सीखकर आऊँगी। छः-सात वर्ष लग सकते हैं। तुम लोगों

की गृहस्थी में आकर जो तोड़-फोड़ कर गई हूँ वह सब इतने दिनों में ठीक हो जायगा। मेरे लिये कुछ चिन्ता न करना, तुम्हारे ही लिये मेरे मन में बराबर चिन्ता बनी हुई है।"

शर्मिला की चिट्ठी—

"दीदी, तुम्हारे चरणों में मेरे सहस्र-सहस्र प्रणाम। अज्ञान-वश अपराध किया है, क्षमा करना। यदि यह अपराध न हो तो कम-से-कम यही जानकर सुखी हूँगी। इससे अधिक सुखी होने की आशा मन में नहीं रखूँगी। किसमें सुख है, यही बात क्या निश्चित रूप से जानती हूँ! और सुख यदि न मिले तो नहीं ही सही। भूल करते हुए अब डर लगता है।"

ज्ञातव्य

'दो बहनें" उपन्यास बँगला के 'दुई बोन' का हिन्दी अनुवाद है। मूल उपन्यास सन् १९३३ में पहली बार 'विचित्रा' नामक मासिक पत्रिका में धारावाहिक प्रकाशित हुआ था। इस उपन्यास के सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ का एक अपूर्व पत्र 'विचित्रा' की उसी वर्ष की श्रावण-संख्या में छपा था। इससे उपन्यास की कथा-वस्तु और चरित्रों पर बहुत-कुछ प्रकाश पड़ता है। पत्र का हिन्दी अनुवाद नीचे दिया जाता है :

"तुमने लिखा है, तुम्हारी बान्धवी ने मेरे कल्पित उपन्यास 'दुई बोन' के भाग्य-विभ्राट का सारा दोष शशाङ्क के मत्थे मढ़ा है। उन्होंने ध्यान नहीं दिया कि दोष वस्तुतः प्रकृति मायाविनी का है। मनुष्य के चलने-फिरने के रास्ते में वही अपना निष्ठुर चोर-फन्दा पसार रखती है ; असन्दिग्ध मन से चलते-चलते अचानक पथिक ऐसी जगह क़दम रख बैठता है जहाँ ढका हुआ गड्ढा होता है। शशाङ्क की संसारयात्रा की राह देखने में पक्की ही थी मगर उसके चलने के हक़ में थी रपटीली। अभागा सिर के बल गिरने से पहले इस बात को ख़ुद ही काफ़ी साफ़ तौर से नहीं समझ पाया। दिन अच्छे ही गुज़र रहे थे लेकिन जिस पुल पर से होकर गुज़र रहे थे

उसकी चुनाई में कहीं एक सन्धि थी। कारण, शशाङ्क और शर्मिला में भीतर-भीतर जोड़ नहीं मिली; तथापि ऊपर-ऊपर से छुपी हुई दरार पर नज़र भी नहीं पड़ी। अचानक बाहर से भहराकर गिरने से पहले क्या वे लोग कोई इस बात को जान सके थे? जब जान सके तब तो नसीब ही फूट चुका था। नेक सलाह देने वाले कहेंगे, फूटे नसीब पर बैण्डेज बाँधकर भले आदमी की तरह उसी पुराने रास्ते पर ठोकर खाते-खाते, लाठी टेककर लँगड़ाते-लँगड़ाते चलते जाना ही कर्त्तव्य है। शशाङ्क भी उसी तरह चलता जाता मगर शर्मिला कह बैठी: उस तरह चलने में किसी पक्ष को सुख नहीं होगा।—स्पर्धापूर्वक उसने अपने विशेष प्लान के अनुसार भाग्य में संशोधन करने का प्रस्ताव जनाया। किन्तु भाग्य के लेखे पर क़लम चलाना इतना आसान नहीं। इसे समझा ऊर्मिमाला ने। भूचाल-केन्द्र के ऊपर कच्चे माल-मसाले से रचे हुए डाँवाडोल आवास में आश्रय लेने को वह राज़ी नहीं हुई। इसीलिये भाग खड़ी हुई। इसके बाद क्या हुआ सो कौन बताए! समय के साथ शायद ऊपर का कटा हुआ दाग़ मिट गया, मगर बीच-बीच में धक्का खाकर अन्दर की टूटी-फूटी नसों में क्या आज भी पीड़ा टीस नहीं उठती? पीड़ा जिसे मिलती है उसीपर हम लोग मुन्सिफ़ी किया करते हैं लेकिन पीड़ा मिटाने का सारा दायित्व क्या हमेशा उसीका होगा? बिजली गिरने

से आदमी मर गया : तुमने कह दिया, पूर्वजन्म के पापों का फल है ! इससे तो केवल दोष देने की अन्ध इच्छा ही साबित होती है, दोष नहीं साबित होता।

तुमने लिखा है, तुम्हारी बान्धवी मेरी कहानी के सभी पात्रों के प्रति विमुख हैं। तादाद उनकी बहुत थोड़ी है—इने-गिने तीन तो प्राणी हैं—तब भी उनमें से एक भी उनके मन-मुताबिक न उतरा ! सो इसके लिये दुःख करने का कारण नहीं ; क्योंकि विकासवाद को प्राकृतिक निर्वाचन-प्रणाली साहित्य और समाज में एक-जैसी नहीं होती। समाज में हम जिन्हें मित्रों में शुमार नहीं करते, साहित्य में उन्होंने समादर पाया है—इसके अनेकानेक उदाहरण मिल जाएँगे। आदर्श मानवचरित्र के पैमाने से साहित्य की श्रेष्ठता का न्याय इस देश के समालोचकवर्ग को छोड़कर दुनिया में और कहीं देखने नहीं मिलता। याद है, कभी यह बहस भी अक्सर उठा करती थी कि आदर्श सती नारी की दृष्टि से स्व० वंकिमचन्द्र के भ्रमर और सूर्यमुखी नामक नारी-चरित्रों में आधी-रत्ती के वज़न से श्रेष्ठता का तारतम्य किस विशेष बात या किस ढँग पर निर्भर है ? तब मेरी उम्र थोड़ी थी, मगर इसके बावजूद भी मन में यह शिकायत उठा करती थी कि अरसिकेषु रसस्य निवेदनं—इत्यादि ! क्या यह बात भी समझानी होगी कि साहित्य श्रेयस्तत्त्व के निर्दोष साँचे में ढाली हुई गुड़ियाँ बनाने का कारखाना

नहीं है ? 'मैकबेथ' नाटक में केवल दो ही प्रधान पात्र हैं, मैकबेथ और लेडी मैकबेथ। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन दोनों में से किसीको भी सुकुमारमति पाठक के चरित्रगठन के योग्य दृष्टांत के रूप में व्यवहार नहीं किया जा सकता। 'एन्टनी एण्ड् क्लियोपैट्रा' शेक्सपीयर के प्रधान नाटकों में अन्यतम है परन्तु यदि क्लियोपैट्रा को प्रातःस्मरणीय पंचकन्याओं में स्थान पाने का अधिकार मिल भी जाए, तब भी उसे साध्वी का आदर्श तो नहीं माना जा सकता; और एन्टनी अपने चरित्र के अनिन्द्य आदर्श के द्वारा ऊँची श्रेणी के बँगला नावेल के नायकों की समश्रेणी में नहीं गिना जा सकता—यह भी मानना ही होगा। तथापि इसे भी माने बिना नहीं रहा जा सकता कि शेक्सपीयर का यह नाटक ऊँची श्रेणी के बँगला नावेल से कम-से-कम हीन तो किसी क़दर भी नहीं है। महाभारत के धृतराष्ट्र को छोटा नहीं किया जा सकता मगर बड़प्पन की दृष्टि से उनमें भी कमी तो थी ही। और कमी थी किसमें नहीं ? स्वयंवर-सभा में भीष्म ही क्या क्षमा के योग्य थे ? यहाँ तक कि कवि के प्रिय पात्र पाण्डवों के आचरण में भी कलंक खोजने के लिये विशेष तीक्ष्ण दृष्टि की आवश्यकता न होगी। आधुनिक बंगाल में वेदव्यास जो नहीं पैदा हुए सो अपने पुण्यबल के ही कारण !

दूसरे पक्ष से यह दलील पेश की जा सकती है कि साहित्य में

समाजधर्म और शाश्वतधर्म की जो त्रुटियाँ देखने में आती हैं वे उसका शोचनीय परिणाम ही प्रमाणित करने के लिये हैं। अर्थात् इतना ही दर्शाने के लिये कि स्खलन का पथ हमारा अभीष्ट पथ नहीं है। लेकिन देखा तो यह जाता है कि आजकल केवल इतने से ही भलेमानसों का क्षोभ शान्त नहीं होता। मेरे 'घर-बाहर' ('घरे-बाइरे') उपन्यास के सन्दीप या विमला ने कोई गौरवजनक सिद्धि नहीं पाई लेकिन फिर भी अभी उस दिन तक समालोचकों के दरबार में उन्हें सज़ा से रिहाई भी नहीं मिली। तार-स्वर से बारबार यही फ़रमाइश की जाती है कि जैसे भी हो, श्रेष्ठ आदर्श की रचना करना ही होगी। बचकानी ज़िद इसीको कहते हैं—जो चीनी की गुड़िया को बराबर अपनी लालायित रसना से चाटते ही रहना चाहती है!

'दुइ बोन' उपन्यास के संबंध में तुम मेरी अपनी व्याख्या भी कुछ सुनना चाहते हो। कहानी की भूमिका में ही मैंने भीतर का रहस्य खोल दिया है। आम तौर पर नारी पुरुष के सम्बन्ध से कभी माँ, कभी प्रिया या कभी दोनोंकी मिलावट हुआ करती है। हमारे यहाँ अनेक पुरुष ऐसे होते हैं जो बुढ़ापे तक माँ की गोद की आबहवा में ही सुरक्षित रहा करते हैं। वे स्त्री के निकट माँ का लाड़-प्यार ही उपभोग्य समझते हैं। विवाह से पहले बंगाल में वर कहता है, 'माँ, तुम्हारे लिये दासी लाने जा रहा हूँ': अर्थात् स्त्री माँ के परिशिष्ट के रूप में ही आती है—अल्मा मेटर की पोस्टग्रैज्युएट

छात्री की तरह ! लड़का माँ के निकट बचपन से ही जो सेवा-जतन पाने का आदी है, बहू उसीको दुहराने की दीक्षा पाती है। बहुत थोड़ी-सी स्त्रियों को ऐसा सुयोग मिलता है कि वे स्वतन्त्र रूप से पति की पूर्णता सम्पादन कर सकें, गृहस्थी को संपूर्णतया अपनी ही प्रतिभा से नये सिरे से गढ़ सकें।

किन्तु दूसरी तरफ़ ऐसे पुरुष भी अवश्य होते हैं जो इस आर्द्र प्यार-दुलार के आवेश से आपादमस्तक आच्छन्न रहना पसन्द ही नहीं करते। वे स्त्री को स्त्री के रूप में ही पाना चाहते हैं, चाहते हैं दोनों का अनुसंग। वे जानते हैं कि स्त्री जहाँ यथार्थ रूप से स्त्री होती है, पुरुष वहीं यथार्थ रूप से पौरुष का अवकाश पाता है। अन्यथा उसे आजीवन लालन-रस-लालायित बचपना ही निबाहना होता है। माँ को दासी को लेकर ज़िंदगी बिताने-जैसा दौर्बल्य पुरुष के जीवन में दूसरा नहीं हो सकता।

शशाङ्क ने अपनी स्त्री में नित्य-स्नेह-सतर्क माँ को ही पाया था। इसीसे उसका अन्तर अपरितृप्त ही रह गया था। ऐसी ही अवस्था में उसके कक्षपथ में ऊर्मि के आ पहुँचने से संघात हो बैठा—ट्रैजेडी घटित हो उठी। दूसरी ओर अत्यन्त निर्भरलोलुप नारियाँ भी संसार में अनेक होती हैं। वे लोग ऐसे पुरुष की कामना करती हैं जो उनकी प्राणयात्रा में मोटर-रथ के शोफ़र का काम करेगा। वे चाहती हैं पतिगुरु को—पदधूलि की वे भिखारिणी हुआ करती हैं।

किन्तु इससे विपरीत जाति की नारियाँ भी अवश्य ही होती हैं जो अतिलालन-असहिष्णु प्रकृत पुरुष को ही चाहती हैं—जिसे पाकर उनका नारीत्व परिपूर्ण होता है। दैवयोग से ऊर्मि उसी जाति की थी। शुरू से ही चालक को लेकर—गुरु को लेकर—उसका दम घुटने लगा था। ठीक ऐसे ही समय उसे एक ऐसा पुरुष मिल बैठा जिसका अपना चित्त अनजाने ही स्त्री को खोज रहा था। जिसके साथ उसकी लीला अपने जीवन की सम-भूमि पर ही संभव हो सकती थी, वही उसकी यथार्थ जोड़ था।

भाग्य की अनहोनी को सुधारने जाकर सामाजिक अनहोनी निदारुण हो उठी। असल मामला यही है। उपसंहार में इतना ही कह रखना चाहता हूँ कि नारी-मात्र के भीतर माँ भी होती है—प्रिया भी होती है। कौन मुख्य है और कौन गौण, कौन अगवाह है और कौन पीछे—इसीके बल पर उनका अपना स्वातंत्र्य निश्चित होता है।"

२७ मार्च, १९३३

प्रकाशक मोहनलाल वाजपेयी
हिन्दी प्रकाशन समिति, विश्वभारती ग्रन्थन-विभाग
शान्तिनिकेतन

मुद्रक श्रीप्रभातकुमार मुखोपाध्याय
शान्तिनिकेतन प्रेस, शान्तिनिकेतन, वीरभूम